THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_176726
UNIVERSAL LIBRARY

अध्ययन माला
१

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम्० ए०, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०,
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,
इलाहाबाद

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण; दिसम्बर, १६५१

मूल्य २॥)

मुद्रक:—
देवीप्रसाद मैनी,
हिन्दी साहित्य प्रेस; इलाहाबाद

प्रकाशकीय

'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' आपके सामने है। यह 'अध्ययन माला' का प्रथम पुष्प है। इस योजना के अन्तर्गत हम ऐसी छोटी-छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तकें अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखवाकर प्रकाशित करना चाहते हैं जिनसे हिन्दी साहित्य-निर्माता प्राचीन एवं आधुनिक प्रमुख कवियों की कृतियों और जीवन परिचय के साथ-साथ उनका आलोचनात्मक अध्ययन भी उपस्थित किया जा सके। हिन्दी-क्षेत्र के विस्तार और छात्रों की संख्यावृद्धि के साथ ही हमारा भी दायित्व बढ़ गया है कि हम साहित्य-पिपासुओं के लिए 'गागर में सागर' उपस्थित कर सकें। हमारा यह विनम्र प्रयास इसी ओर है।

भारतेन्दु जागरण युग के प्रतिनिधि कवि हैं। इसलिए इनका विशेष महत्त्व है। विद्वान लेखक ने अपनी प्रतिभापूर्ण लेखनी द्वारा विषय को सुगम तथा सुबोध बना दिया है। आशा है हिन्दी प्रेमी ऐसी उत्कृष्ट रचना का उत्साहपूर्वक स्वागत कर इससे लाभ उठावेंगे। साहित्य भवन डा० रामकुमार वर्मा का आभारी है जिनके सक्रिय सहयोग और सहायता से इस योजना को कार्यान्वित करना संभव हुआ है।

प्रकाशनाध्यक्ष

वक्तव्य

'भारतेन्दु की विचारधारा' के बाद इस पुस्तक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। स्थानाभाव के कारण अनेक बातों का संक्षेप में उल्लेख कर दिया गया है। किन्तु तब भी प्रत्येक विषय को स्पष्ट बनाना लेखक का अभीष्ट रहा है। आशा है यह पुस्तक भारतेन्दु-साहित्य के विद्यार्थियों को उपयोगी सिद्ध होगी।

जिन अनेक लेखकों की रचनाओं से सहायता प्राप्त हुई है लेखक उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

इलाहाबाद,
२४ फ़रवरी, १९५१

विषय सूची

१. जीवनी	...	१-३७
२. ग्रन्थ-रचना	...	३८-८०
३. आलोचना	...	८१-१८४
४. संग्रह	...	१८५-२१८

१. जीवनी

सामान्य पीठिका

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उन युग-प्रवर्तकों में से हैं जिनके व्यक्तित्व के माध्यम द्वारा इतिहास की बिखरी हुई शक्तियाँ सिमट कर एक हो जाती हैं और जो भविष्य के लिए एक निश्चित और सुदृढ़ समन्वयात्मक मार्ग का सृजन करती हैं। भारतीय इतिहास, विशेषतः हिन्दी प्रदेश के सांस्कृतिक इतिहास, में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम यदि एक ओर पिछले लगभग एक शताब्दी के भारतीय इतिहास की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, तो दूसरी ओर यूरोप की उन शक्तियों की तरफ़ हमारा ध्यान खींच ले जाता है जिन्होंने ईसा की अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में भारतवर्ष के जीवन को ही नहीं वरन् समस्त एशियाई देशों के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित कर उसे स्पन्दित किया। एक समय था जब भारतवर्ष तथा एशिया के अन्य देशों ने मानव सभ्यता और संस्कृति को गौरवमय शिखर तक पहुँचाने में सक्रिय भाग लिया था। दैव संयोग से वे ही देश अवनतिशील हो चुके थे। और जिस समय वे अपना निश्चेष्ट जीवन व्यतीत कर रहे थे उसी समय वे यूरोप की जीवित एवं गतिशील जातियों के संस्पर्श में आए। सभी देशों का सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक जीवन यूरोपीय सभ्यता के आघात से उत्तेजित हो उठा और उसमें नवस्फूर्ति और चेतना का संचार हुआ। जो जहाँ था वह वहीं न रह कर एक या दूसरी दिशा की ओर बढ़ चलने के लिए तत्पर हो गया। मार्ग में फूल भी मिले और काँटे भी, किन्तु बढ़ते सभी गए, रुका कोई नहीं, यह निश्चित है। इस सार्वभौम ऐतिहासिक प्रक्रिया में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके नेतृत्व में हिन्दी प्रदेश ने सक्रिय भाग लेकर

गतिशीलता का परिचय दिया। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक हिन्दी प्रदेश में परंपरागत भारतीय सभ्यता और यूरोपीय सभ्यता में पारस्परिक संघर्ष चलता रहा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्राचीन केन्द्र काशी में रहते हुए दोनों का समन्वय उपस्थित किया, भटके हुओं को उन्होंने किनारे पर लगाया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व का भारतीय इतिहास एक जाति के बिगड़ने की दुःखद कहानी है। अंतिम महान् मुग़ल सम्राट् औरँगज़ेब की मृत्यु १७०७ में हुई थी। वैसे तो मुग़ल साम्राज्य के पतन का बीजारोपण उसी के शासन-काल में हो चुका था, किन्तु उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में मुग़ल साम्राज्य का रहा-सहा वैभव भी विलीन हो गया। साम्राज्य में अनेक शासन-संबंधी एवं चारित्रिक दोष उत्पन्न हो गए थे। उधर मरहठे, सिक्ख, जाट आदि भी अपना राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ाने में लगे हुए थे। परिणाम यह हुआ कि एक दूसरे से और सब आपस में लड़भिड़ कर अपनी शक्ति का ह्रास कर रहे थे। इसी समय पश्चिम की अन्य अनेक जातियों की भाँति व्यापार करने के लिए आए अँगरेज़ों ने अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त कर देश की अराजकतापूर्ण परिस्थिति से लाभ उठा कर अपनी सत्ता स्थापित करने की ओर ध्यान दिया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म से लगभग सौ वर्ष पूर्व, अर्थात् १७५७ के प्लासी-युद्ध में अँगरेज़ों को उत्तर भारत में सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण विजय प्राप्त हुई। इस युद्ध ने समस्त उत्तर भारत का द्वार उनके लिए खोल दिया। ऊपर की ओर बढ़ने में न तो कोई भौगोलिक स्थिति उनके लिए बाधक थी और न कोई राज्य-शक्ति। तत्पश्चात् १७६४ के बक्सर-युद्ध ने उन्हें ठीक हिन्दी प्रदेश की सीमा पर ला बिठाया। १८०३ तक वे हिन्दी प्रदेश के मध्य और केन्द्रीय भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुके थे। १८१८ तक राजस्थान के सभी राजपूत नरेशों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली।

धीरे-धीरे अँगरेज़ों ने भारत के सुदूर दक्षिण प्रान्त से उत्तर में सतलज तक अपना राज्य स्थापित कर लिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म से एक वर्ष पूर्व अर्थात् १८४९ में द्वितीय सिक्ख-युद्ध के बाद देश का शेष भाग भी उनके हाथ में आ गया था। १८५७ में जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सात वर्ष के थे राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों से जो घटना घटित हुई वह अँगरेज़ों के नवार्जित साम्राज्य में अंतिम बाधा थी। उस पर विजय प्राप्त कर उन्होंने कुछ दिनों के लिए अपना मार्ग निष्कंटक बना लिया। इसी समय भारतीय शासन-सूत्र ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकल कर ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल के हाथ में चला गया। यह एक महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन था। अस्तु, जिस समय भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ उस समय भारतीय स्वाधीनता का सूर्य अस्ताचल-गमन कर चुका था और भारत पर पूर्ण रूप से अँगरेज़ों का आतंक छा गया था। किन्तु यह राजनीतिक स्वाधीनता का अपहरण तो केवल एक बाह्य चिन्ह था। सच तो यह है कि भारतीय-इस्लामी संस्कृति ही अपनी रचनात्मक शक्ति खो बैठी थी। जिस समय हिन्दू संस्कृति अपनी शक्ति खो बैठी थी उस समय मुसलमानों ने भारतवर्ष को पददलित किया। जब मुसलमान यहाँ बस गए तो इस्लामी संस्कृति भारतीय जीवन को और स्वयं अपने को यहाँ की संस्कृति से प्रभावित किए बिना न रह सकी थी। इस पारस्परिक संपर्क के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के परिणाम दृष्टिगोचर हुए। अठारहवीं शताब्दी में यही भारतीय-इस्लामी संस्कृति अपने अन्दर के दोषों का निराकरण न कर सकने के कारण ही पश्चिम की एक जीवित जाति के सामने नत-मस्तक हुई। धर्म और समाज प्रसारोन्मुख न होकर अपने में सिमट कर रह गए थे। खान-पान, छूआछूत-संबंधी प्रतिबंधों और रूढ़ि तथा परंपरा का पालन करना ही प्रधान कर्त्तव्य समझा जाने लगा था। वास्तव में संकटकालीन कट्टरता के फलस्वरूप लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को भूल कर उसके बाह्य और समयानुसार परिवर्तनशील स्वरूप को अपनाए

रहे। अबाध और उन्मुक्त गति से प्रवाहित होने वाली संस्कृति-धारा की गति अवरुद्ध हो गई जिससे उसमें तरह-तरह के अनेक विकार उत्पन्न हो गए। यदि उस समय के भारतवासी अपनी तंग दुनिया से बाहर झाँक कर देखते और व्यापक दृष्टिकोण ग्रहण कर काल-गति के अनुसार व्यवहार करने की चेष्टा करते तो उन्हें पराधीन जीवन के ये दुर्दिन न देखने पड़ते।

वास्तव में जिस युग की हम बात कर रहे हैं वह युग ही ख़राब था, क्योंकि उसमें प्रतिभाशाली व्यक्तियों का अभाव नहीं था। साहित्य, ज्योतिष, गणित, राजनीति, युद्ध-विद्या आदि में दक्ष अनेक व्यक्तियों के उल्लेख मिलते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है ये व्यक्ति प्रतिभा संपन्न होते हुए भी नवीन शक्तियों के समझने और उन्हें व्यवहार में लाने में असमर्थ रहे। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवासी बहुत दिन तक यही न समझ पाते थे कि ईस्ट इंडिया कंपनी क्या चीज़ है, उसका विधान क्या है, उसका संचालन कौन, कैसे और कहाँ से करता है आदि। नवीन यूरोपीय युद्ध-विद्या सीखने की प्रवृत्ति बहुत कम पाई जाती है। स्थल-सेना के अतिरिक्त जल-सेना की ओर किसी ने ध्यान न दिया, यद्यपि अपनी जल-सेना के कारण ही अँगरेज़ अपने यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों पर तथा भारत में विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सके थे। प्रेस जैसी वैज्ञानिक शक्ति की ओर भी भारतवासियों ने बहुत दिनों तक ध्यान न दिया। इसी प्रकार घड़ियों तथा यूरोप से आई अन्य अनेक वस्तुओं को समझने और उन्हें भारत में बनाने की प्रवृत्ति का सर्वत्र अभाव मिलता है। और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतवर्ष की ही यह शोचनीय दशा नहीं थी, वरन् एशिया के अन्य देश भी अपनी सृजनात्मक शक्ति खो बैठे थे।

उधर यूरोप में नित्य नवीन परिवर्तन हो रहे थे। वहाँ एक नवीन शक्ति लोगों को भयंकर समुद्रों की उत्ताल तरंगे पार कर कुछ खोजने के लिए प्रेरित कर रही थी। यह ठीक है कि अठारहवीं शताब्दी के

इँगलैंड तथा यूरोप-निवासी पुनरुत्थान-काल की भावना से ओतप्रोत थे और प्राचीन ग्रीक और लैटिन वाङ्मय के प्रति मोह के कारण विज्ञान की ओर अधिक ध्यान न दे सके थे। तो भी पुनरुत्थान काल ने यूरोपीय प्रतिभा को नवीन मार्ग सुझाए जिसके फलस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में वहाँ स्थान-स्थान पर शक्ति के आवेगयुक्त झरने फूट पड़े। अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हुए जिनके कारण यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति का जन्म हुआ। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति तथा नैपोलियन ने एक नवीन युद्ध-विद्या ही नहीं दी थी, वरन् साथ ही जहाज़ बनाने के उद्योग को अभूतपूर्व प्रोत्साहन प्रदान किया। १७७६ में अमरीका की स्वतंत्रता-प्राप्ति ने और उसके छः वर्ष बाद उपनिवेशों द्वारा इंगलैंड से संबंध-विच्छेद ने भी अँगरेज़ों का दृष्टिकोण प्रभावित किया था। १७६० और उसके बाद का समय वाष्प-शक्ति और उसके द्वारा संचालित सूत कातने और कपड़ा बुनने की मशीनों का समय है। इन वैज्ञानिक आविष्कारों तथा राज्यक्रान्तियों के फलस्वरूप यूरोप और इँगलैंड के आर्थिक क्षेत्र और सामाजिक संगठन में परिवर्तन हुए बिना न रह सके। आर्थिक क्षेत्र में वे नए नए बाज़ारों की खोज करने लगे और सामाजिक क्षेत्र में मध्यम वर्ग का जन्म हुआ। जिस समय अँगरेज़ भारतवर्ष आए उस समय भारतवासी अँगरेज़ों तथा यूरोप के अन्य किसी देश के निवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य और सुसंस्कृत थे, आर्थिक क्षेत्र में भी वे बहुत आगे बढ़े हुए थे। किन्तु उनके जीवन में यदि किसी चीज़ का अभाव था तो उसी ज्ञान-विज्ञान का अभाव था जिसे अँगरेज़ अपने साथ लाए थे और जिस अभाव के कारण ही मैकॉले ने समस्त पूर्वी साहित्य अनुपयोगी ठहराया था। ज्ञान-विज्ञान से उत्पन्न नवीन रचनात्मक शक्ति के अभाव के कारण भारतवासियों को अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। और यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म से लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व अँगरेज़ों ने नवीन शिक्षा और वैज्ञानिक आविष्कारों का सरकारी तौर से प्रचार प्रारंभ कर दिया

था, तथापि अँगरेज़ों की साम्राज्यवादी स्वार्थपूर्ण नीति के कारण इस नई पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क से वह परिणाम दृष्टिगोचर न हुआ जो मुसलमानों के आने पर हुआ था। हाँ, अँगरेज़ी राजनीतिक सत्ता स्थापित हो जाने के बाद भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में उसका प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी था।

इसी ऐतिहासिक और मानसिक पृष्ठभूमि को लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अवतरित हुए थे।

स्ववंश-वर्णन तथा पूर्वज

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने वंश का परिचय देते हुए 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (१८७७) में लिखा है :

'वैश्य अग्रकुल मैं प्रगट बालकृष्ण कुल-पाल।
ता सुत गिरिधर-चरन-रत वर गिरिधारीलाल॥
अमीचंद तिनके तनय फतेचंद ता नंद।
हरखचंद जिनके भए निज कुल-सागर-चंद॥
श्री गिरिधर गुरु सेइ कै घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब हरि-पद भक्ति दृढ़ाइ॥
तिनके सुत गोपाल-ससि प्रगटित गिरिधरदास।
कठिन करम-गति मेटि जिन कीनी भक्ति प्रकास॥
मेटि देव-देवी सकल छोड़ि कठिन कुल-रीति।
थाप्यौ गृह मैं प्रेम जिन प्रगटि कृष्ण-पद-प्रीति॥
पारबती की कूख सों तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुलचंद्राग्रज भयो भक्त दास हरिचंद॥'

इसके अतिरिक्त कई अन्य ग्रन्थों से भी उनका सूक्ष्म वंश परिचय प्राप्त होता है। 'चंद्रावली नाटिका' (१८७६) में उन्होंने अपने को गिरिधरदास का पुत्र बताया है :

'जिन श्री गिरिधरदास कवि, रचे ग्रन्थ चालीस ।
ता सुत श्री हरिचंद कों, को न नवावै सीस ॥'

इसी प्रकार 'मधु मुकुल' (१८८०) में लिखा है :

'कविवर गिरिधरदास तनूभव हरिश्चंद्र-कृत-गाने ।'

'नाटक' (१८८३) के परिशिष्ट में भी उन्होंने अपने पिता का नाम 'श्री कविवर गिरिधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपालचंद्र जी)' लिखा है । साथ ही अपने भाई के संबंध में 'प्रेम प्रलाप' (१८७७) में उनका कथन है :

'गायति गोकुलचंद्राग्रज कवि हरिश्चंद्र कुलचंद्रे ॥'

इस प्रकार भारतेन्दु द्वारा दिए गए सन्निप्त स्ववंश परिचय तथा अंतर्साक्ष्य के अन्य प्रमाणों के आधार पर उनका वंश-वृक्ष इस प्रकार दिया जा सकता है :

बालकृष्ण
|
गिरिधारीलाल
|
अमीचंद
|
फ़तहचंद
|
हरषचंद
|
गोपालचंद्र (गिरिधरदास) (पार्वती देवी)
|
हरिश्चन्द्र — गोकुलचन्द्र

बाबू राधाकृष्णदास ने 'भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र' में जो वंश-वृक्ष दिया है उसमें तथा बाबू शिवनंदन सहाय कृत १९०५ में प्रकाशित भारतेन्दु की जीवनी, बाबू (बाद को डॉ०) श्यामसुंदरदास

द्वारा 'भारतेंदु नाटकावली' (१६२७) की भूमिका और बाबू ब्रजरत्न दास द्वारा 'भारतेंदु हरिश्चन्द्र' (१६३५) में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्वजों तथा वंश के संबंध में जो विवरण दिए गए हैं उनका उपर्युक्त वंश-वृत्त से लगभग साम्य है। अंतर केवल इतना ही है कि एक तो स्वयं भारतेन्दु के द्वारा दिए गए वंश-परिचय से विस्तार ज्ञात नहीं होता। दूसरे भारतेन्दु ने बालकृष्ण के बाद गिरिधारीलाल का उल्लेख किया है। किन्तु बाबू राधाकृष्ण दास के अनुसार वह इस प्रकार है :

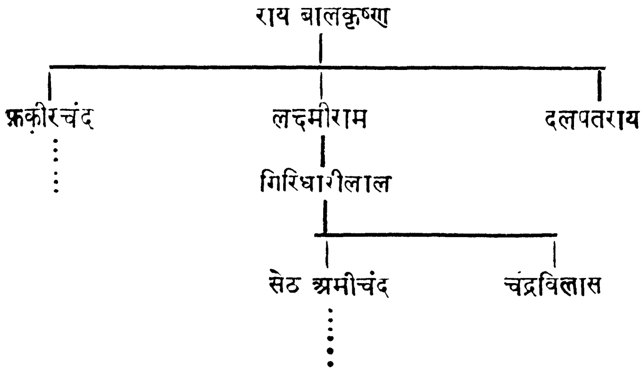

बालकृष्ण के पूर्वजों का उल्लेख अन्तर्साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य दोनों के आधार पर ही नहीं मिलता। उनका संबंध दिल्ली के शाही घराने से था। १७वीं शताब्दी में जब शाहजहाँ का पुत्र शाहशुजा बंगाल का सूबेदार नियुक्त होकर राजमहल आया था उस समय इस वंश के पूर्वज भी बंगाल चले आए थे। जब बंगाल के नवाब राजमहल से मुर्शिदाबाद गए तो यह वंश भी मुर्शिदाबाद आ बसा। राजमहल और मुर्शिदाबाद दोनों स्थानों में इस वंश के पूर्वजों के महलों के खँडहर अब तक पाए जाते हैं।

अमीचंद—भारतेन्दु के पूर्वजों में से बालकृष्ण और गिरिधारीलाल का कोई वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है। बालकृष्ण के प्रपौत्र तथा

गिरिधारीलाल के पुत्र अमीचंद के समय से भारत में अँगरेज़ों का राजत्व-काल प्रारंभ होता है। उनका संबंध आधुनिक भारतीय इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है और उनका परिचय भी इस समय प्राप्त है। १७५६ में बंगाल के नवाब अलीवर्दी ख़ाँ का लड़ैता नवासा सिराजुद्दौला गद्दी पर आसीन हुआ। उसी समय मुसलमान शासकों की कृपा से कलकत्ता और उसके आसपास का प्रदेश अँगरेज़ों को मिल चुका था। व्यापार में अधिक लाभ होते देख अमीचंद भी कलकत्ते आकर बड़े ठाठबाट से रहने लगे। नवाब सिराजुद्दौला के दरबार में उनका मान था। प्रारंभ में अपना व्यापार बढ़ाने के लिए अँगरेज़ों ने भी उनसे सहायता ली। इतना ही नहीं, नवाब से संपर्क स्थापित करने के लिए भी उन्होंने अमीचंद को माध्यम बना रखा था। सिराजुद्दौला को गद्दी पर बैठे बहुत दिन भी न हुए थे कि उसमें और अँगरेज़ों में तनातनी हो गई। इस संघर्ष में अमीचंद ने सदैव अँगरेज़ों की सहायता की। इतने पर भी अँगरेज़ों ने उनके साथ नीचतापूर्ण दुर्व्यवहार किया। उन्हें कारागार में बन्द कर अँगरेज़ सैनिकों ने उनका धन लूटा और उनके अन्तःपुर में घुसने की चेष्टा की। किन्तु जगन्नाथ नामक क्षत्रिय सैनिक की वीरता के कारण वे कुलवधुओं को कलंकित करने में असमर्थ रहे। कुलवधुओं को मार कर जगन्नाथ ने उन्हें चिता में जला दिया। उसी चिता की अग्नि में अमीचन्द का राज-प्रासाद भी जल कर भस्मीभूत हो गया। किन्तु आर्थिक क्षति और मानसिक क्षोभ सहन करते हुए भी उन्होंने समय-समय पर अँगरेज़ों के प्रति अपनी मित्रता का निर्वाह किया। इसका पुरस्कार क्लाइव तथा उसके साथियों ने उन्हें यह दिया कि प्लासी (१७५७) के युद्ध के समय उन्हें सिराजुद्दौला के कोष से प्राप्त धन में से जो भाग देने की प्रतिज्ञा की थी उस संबंध में उनसे जाली संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कराए गए और युद्ध के अंत में उनसे कह दिया गया कि जाली संधि-पत्र तो आपको सब्ज़बाग दिखाने के लिए था। इतना

सुनते ही अमीचंद बेहोश हो गए और डेढ़ वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो गई। कहा जाता है कि उनकी मृत्यु ५ दिसंबर, १७५८ (?) को हुई। वास्तव में अमीचंद ने भारतीय होने के नाते सिराजुद्दौला के साथ जो व्यवहार किया था वह कभी भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। किन्तु वे हृदय के सच्चे, दृढ़-प्रतिज्ञ और उदार थे। अँगरेज़ उनका अनिष्ट करते रहे और वे सदैव उनका हित-साधन। भारत में अँगरेज़ी शासन के इतिहास-काल में ब्रिटिश जाति पर अन्य अनेक कलंक के टीकों में अमीचंद के साथ किया गया विश्वासघातपूर्ण व्यवहार भी एक बहुत बड़ा कलंक का टीका है।

फ़तहचंद—अमीचंद के दस पुत्र थे जिनमें से तीन को 'राजा' और एक को 'रायबहादुर' की पदवी प्राप्त थी। इन पुत्रों में से वंश केवल फ़तहचंद का ही चला। पिता की दुःखद मृत्यु के बाद वे १७५६ में काशी चले आए। उस समय उनकी अवस्था दस वर्ष के लगभग थी। उनका विवाह काशी के प्रसिद्ध सेठ गोकुलचंद साहू की कन्या से हुआ। सेठ गोकुलचंद के और कोई सन्तान न होने के कारण फ़तहचंद ही उनके उत्तराधिकारी हुए। वे हनुमान जी के भक्त थे। वे महाजनी करते थे। काशी के प्रबंध में उन्होने अँगरेज़ों की बराबर सहायता की। फ़तहचंद की मृत्यु १८१० के आसपास मानी जाती है।

हर्षचंद—जिस समय फ़तहचंद की मृत्यु हुई उस समय उनके पुत्र हर्षचंद अल्पवयस्क थे। हर्षचंद अपने पिता की एकमात्र संतान थे। काशी में उन्होंने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की। यहाँ तक कि लोकगीतों में भी उनका नाम लिया जाने लगा। हर्षचंद के दो विवाह हुए थे। पहला विवाह चंपतराय अमीन की पुत्री से हुआ। किन्तु संतान न होने के कारण उन्होंने दूसरा विवाह वृन्दावनदास की पुत्री श्याम बीबी से किया। इस विवाह से उन्हें यमुना बीबी और गंगा बीबी दो पुत्रियाँ हुईं। वे श्री गोपाल मन्दिर के गोस्वामी गिरिधरलाल के अनन्य भक्त थे। गोस्वामी गिरिधरलाल की आज्ञा से ही उन्होंने वल्लभ कुल के

अनुसार अपने यहाँ ठाकुरजी की सेवा पधराई। वंश-परंपरा के अनुसार हर्षचंद अँगरेज़ों की सहायता करते ही रहते थे। अँगरेज़ लोग भी उनकी बहुत इज्ज़त करते थे। काशी के दो प्रसिद्ध उत्सवों भरत-मिलाप और बुढ़वा-मंगल को उन्नति देने वाले हर्षचंद ही थे। फ़तहचंद के श्वसुर-घराने से जाति की चौधराहट उन्हें मिली थी। वे काशी-नरेश के महाजन भी थे। कहा जाता है कि काशी-नरेश उन्हें बहुत मानते थे। अपनी तथा दो ससुरालों से मिली अतुल संपत्ति के अधिकारी होने के अतिरिक्त वे अपने पितृव्य राय रत्नचंद की संपत्ति के भी उत्तराधिकारी हुए। कहा जाता है हर्षचंद को हिन्दी से प्रेम था और वे कविता भी करते थे। किन्तु अभी तक उनकी कोई काव्य-रचना प्राप्त नहीं हो सकी। अपने जीवन में वे एक बार जगन्नाथ जी का दर्शन करने पुरी भी गए थे। तैलंग देश में एक बड़ा दीवानख़ाना और उस पर ठाकुर जी का छोटा-सा मंदिर बनवाने के कारण उनका नाम वहाँ भी बहुत प्रसिद्ध है। हर्षचंद की मृत्यु ४२ वर्ष की अवस्था में १८४४ में हुई। उस समय उनके पुत्र गोपालचंद्र ग्यारह वर्ष के थे।

गोपालचंद्र—हर्षचंद के दूसरा विवाह करने पर भी जब कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ और अवस्था अधिक हो गई तो वे खिन्न और उदास रहने लगे। उनके गुरु गोस्वामी गिरिधरलाल ने उन्हें आशीर्वाद दिया कि दुःखी न हो, इसी वर्ष पुत्र होगा। और मिती पौष कृष्ण १५, सं० १८९० (सन् १८३३) को गोपालचंद्र का जन्म हुआ। गोस्वामी गिरिधरलाल की कृपा से जन्म पाने के कारण उन्होंने कविता में अपना उपनाम गिरिधरदास रखा। हर्षचंद की पुत्रियों का जन्म गोपालचंद्र के बाद क्रमशः १८३५ और १८३७ में हुआ। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने और १३ वर्ष की अवस्था से व्यापार तथा घर का काम-काज देखने के कारण गोपालचंद्र की समुचित शिक्षा का प्रबंध न हो सका था। किन्तु गुरु के आशीर्वाद से वे संस्कृत और भाषा के अच्छे ज्ञाता हुए। वे बड़े ही विवेकी, सच्चरित्र और प्रगतिशील व्यक्ति माने

जाते थे। अँगरेज़ सरकार की कृपा गोपालचंद्र पर भी बनी रहती थी। विद्या की ओर रुचि होने के कारण उन्होंने अपने घर पर 'सरस्वती भवन' नाम से पुस्तकों का एक अमूल्य संग्रह भी स्थापित किया था। वे अत्यन्त सरल और सात्त्विक स्वभाव के थे। घर के ठाकुर जी के वे अनन्य भक्त थे। पाँच वर्ष की अवस्था में मुंडन के लिए मथुरा तथा वैद्यनाथ जी, और १८५७ में गया गए थे। साधु-महात्माओं की सेवा-शुश्रूषा में उन्हें बहुत आनंद आता था। अपने पिता की भाँति वे बुढ़वा मंगल का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाते थे। अपने पिता के धार्मिक और सामाजिक विचारों के संबंध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' में कहा है : 'मेरे पिता ने बिना अँगरेज़ी शिक्षा पाये इधर क्यों दृष्टि दी (विशुद्ध नाटक-रीति पात्र-प्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा के प्रथम नाटक की रचना), यह बात आश्चर्य की नहीं; उनके सब विचार परिष्कृत थे, बिना अँगरेज़ी की शिक्षा के भी उनको वर्तमान समय का स्वरूप भली भाँति विदित था। पहले तो धर्म के विषय में ही वे इतने परिष्कृत थे कि वैष्णवव्रत पूर्णपालन के हेतु उन्होंने अन्य देवता-मात्र की पूजा और व्रत घर से उठा दिए थे। टामसन साहब लेफ्टिनेंट-गवर्नर के समय काशी में पहला लड़कियों का स्कूल हुआ तो हमारी बड़ी बहन को उन्होंने उस स्कूल में प्रकाश रीति से पढ़ने बैठा दिया। यह कार्य उस समय में बहुत ही कठिन था क्योंकि इसमें बड़ी ही लोकनिंदा थी। हम लोगों को अँगरेज़ी शिक्षा दी। सिद्धान्त यह कि उनकी सब बातें परिष्कृत थीं और उनको बोध होता था कि आगे काल कैसा चला आता है।' वैष्णव-पूजा और काव्य-रचना ये दो बातें उनके जीवन में प्रधान स्थान धारण किए हुए थीं। कहा जाता है कि जब वे तेरह वर्ष के थे तभी उन्होंने वाल्मीकीय रामायण जैसे ग्रंथ का छंदोबद्ध अनुवाद कर डाला था। वे संस्कृत और उर्दू में भी काव्य-रचना करते थे। गोपालचन्द्र की कविता

में काव्य-कौशल पूरी तौर से झलकता है। उन्होंने 'जरासंध-वध महाकाव्य', 'भारती भूषण', 'भाषा व्याकरण', 'रसरत्नाकर', 'नहुष नाटक', 'गर्ग संहिता,' आदि अनेक ग्रंथों की रचना की। भारतेन्दु ने अपने पिता के ग्रंथों के संबंध में कहा है :

'जिन श्रीगिरिधरदास कवि रचे ग्रंथ चालीस'

इन चालीस ग्रंथों में से चौबीस ग्रंथों का अस्तित्व तो है [1], शेष रचनाओं में से कुछ के नाम ज्ञात हैं, कुछ के नहीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पिता के संबंध में एक छप्पय इस प्रकार लिखा है :

' गिरिधरनदास कवि-कुल कमल वैश्य-वंश-भूषन प्रगट।
रामायन भागवत गरग संहिता कथामृत।
भाषा करि करि रचे बहुत हरिचरित सुभाषित॥
दान मान करि साधु भक्त मन मोद बढ़ायो।
सब कुल-देवन मेटि एक हरि-पंथ दृढ़ायो॥
लक्षावधि ग्रंथन निरमये श्रीवल्लभ विश्वास भट।
गिरिधरनदास कवि-कुल-कमल वैश्य-वंश-भूषन प्रगट॥ '

गोपालचंद्र का विवाह दिल्ली के शाहज़ादों के दीवान राय खिरोधरलाल[2] की कन्या पार्वती देवी से १८४३ में हुआ। १८५७ में

१. श्री ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (१९३५), पृ० ४१-४२

२. 'बादशाह दर्पण' की भूमिका में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा है :

'मेरे प्रमातामह राय गिरधरलाल साहब जो यावनी विद्या के बड़े भारी पंडित और काशीस्थ दिल्ली के शाहज़ादों के मुख्य दीवान थे, उनकी इच्छा से दिल्ली के प्रसिद्ध विद्वान् सैयदअहमद ने एक ऐसा चक्र बनाया था जिसमें तैमूर से लेकर शाहआलम तक सब बादशाहों के नाम आदि लिखे थे।......फिर मेरे मातामह राय खीरोधरलाल ने बहादुरशाह के काल के आरंभ तक शेष वृत्त

पार्वती देवी की मृत्यु हो जाने के कारण उसी वर्ष उनका दूसरा विवाह बा० रामनारायण की पुत्री मोहन बीबी से हुआ। पार्वती देवी के चार संतान हुईं—मुकुंदी बीबी, हरिश्चन्द्र, गोकुलचंद्र और गोविन्दी बीबी। मोहन बीबी के एक पुत्र और एक पुत्री उत्पन्न हुई, किन्तु दोनों ही जीवित न रह सके। मोहन बीबी की मृत्यु १८८१ में हुई। अस्तु, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र गोपालचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र थे।

हरिश्चन्द्र

जन्म तथा बाल्यकाल—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म भाद्रपद, १९०७ वि० (१८५० ई०) में हुआ था। किन्तु उनकी जन्म तिथि के संबंध में मतभेद है। स्वयं भारतेन्दु ने अपनी जन्म-तिथि का स्पष्टतः उल्लेख कहीं नहीं किया। किन्तु उन्हीं के कथनानुसार परोक्ष-रूप से हम उनकी जन्म-तिथि का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। 'नाटक' नामक निबंध के 'परिशिष्ट' में उन्होंने लिखा है : 'नहुष नाटक बनने का समय मुझको स्मरण है। आज पचीस बरस हुए होंगे, जब कि मैं सात बरस का था, नहुष नाटक बनता था'। नाटक की रचना-तिथि १८८३ है। इसलिए पचीस वर्ष पहले का समय १८५८ हुआ। यह भारतेन्दु की जीवनी का आठवां वर्ष था, क्योंकि उस समय वे सात वर्ष के हो चुके थे। इस प्रकार अंतर्साक्ष्य के आधार पर भी उनकी जन्म तिथि १८५० निकलती है। स्वर्गीय राधाकृष्णदास ने भाद्रपद शुक्ल

संग्रह किया, और और बातें और स्थानों से एकत्र की गई हैं। इसमें परंपरागत बहुत से बादशाहों के नाम हैं जो और इतिहासों में नहीं मिलते।'

'पुरावृत संग्रह' में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काशी के अग्रवाल कुलभूषण राजा पटनीमल बहादुर और उनके प्रपौत्र तथा अपने फुफेरे भाई राय प्रह्लाददास का उल्लेख किया है।

७ (ऋषि सप्तमी), ता० ६ दिसंबर, १८५० और श्री ब्रजरत्नदास ने भाद्रपद शु० ५ (ऋषि पंचमी), ता० ६ सितंबर, १८५० तिथि मानी है। स्वर्गीय डॉ० श्यामसुन्दरदास ने महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी की गणना के आधार पर उनकी जन्म-तिथि भाद्रपद शु० ७ (ऋषि सप्तमी), ता० ६ सितम्बर, सोमवार स्वीकार की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म उनकी ननिहाल में हुआ था। जब वे पाँच वर्ष के थे तब उनकी माता का और जब वे दस वर्ष के थे तब उनके पिता का देहान्त हो गया था। माता की मृत्यु के बाद उनके पालन-पोषण का भार कालीकदमा दाई और तिलकधारी नौकर पर था। विमाता का उन पर विशेष प्रेम नहीं था। पिता की असामयिक मृत्यु के हो जाने से उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो सका। पिता की मृत्यु के बाद वे बनारस के क्वीन्स कॉलेज में पढ़ने जाने लगे। किन्तु वे स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे, उनका स्वभाव चंचल और उद्धत था, अतएव पढ़ने लिखने में उनका मन नहीं लगता था। फिर भी तीन-चार वर्ष तक वे बराबर कॉलेज जाते रहे। यद्यपि पढ़ने में उनका जी बहुत न लगता था, तो भी ऐसा कभी न हुआ कि वे परीक्षा में उत्तीर्ण न हुए हों। वे कुशाग्रबुद्धि और तीव्र स्मरण शक्ति वाले थे। एक-दो बार पढ़ने से ही उन्हें पाठ याद हो जाता था। पिता की मृत्यु से पहले बाल्यावस्था में वे पं० ईश्वरीदत्त से पढ़ते थे। मौलवी ताज अली उस समय उन्हें उर्दू और पं० नंदकिशोर अँगरेज़ी पढ़ाते थे। जिस समय भारतेन्दु ने अपनी शिक्षा प्रारंभ की थी उस समय काशी के रईसों में केवल राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ही ऐसे व्यक्ति थे जो अँगरेज़ी पढ़े-लिखे थे। अस्तु वे अँगरेज़ी पढ़ने के लिए उनके यहाँ भी जाया करते थे। इसीलिए वे राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द को गुरु-तुल्य मानते थे। कॉलेज छोड़ने के बाद भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त मराठी, बँगला,

गुजराती, मारवाड़ी, पंजाबी आदि बीस-पचीस भारतीय भाषाएँ भी उन्होंने स्वयं अपनी प्रतिभा के बल पर सीख ली थीं। इतना ही नहीं उन्होंने इन भाषाओं में काव्य-रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के काव्य-गुरु पंडित लोकनाथ थे। किन्तु काव्य रुचि उनमें बाल्यावस्था से ही थी। पाँच-छः वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दे दिया था। 'बलराम-कथामृत' की रचना करते समय जब उनके पिता बाणासुर-वध लिख रहे थे, तो बालक हरिश्चन्द्र ने भी कविता करने का आग्रह किया और उनसे प्रेमपूर्ण आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने तुरंत यह दोहा बनाया :—

'लै ब्योंड़ा ठाढे भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान॥'

इसी प्रकार एक बार अपने पिता की सभा में कवियों को अपने पिता कृत 'कच्छप कथामृत' के मंगलाचरण के इस अंश पर—

'करन चहत जस चारु कछु कछुवा भगवान को'।

व्याख्या करते देख बालक हरिश्चन्द्र भी आ बैठे। किसी ने 'कछु कछु वा भगवान को', और किसी ने 'कछु कछुवा (कच्छप) भगवान को', इस प्रकार व्याख्या की। बालक हरिश्चन्द्र ने 'कछुक छुवा भगवान को' (अर्थात् उनके पिता जी ने जिस भगवान् को कुछ कुछ छू लिया) व्याख्या कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया। अत्यन्त रसिक होने के कारण प्रारंभ में उनका झुकाव शृंगार रस की कविताओं की ओर अधिक था।

विवाह तथा यात्रा—तेरह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह शिवाले के रईस लाला गुलाबराय की पुत्री मन्नादेवी से संपन्न हुआ। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में घर की स्त्रियों के आग्रह से उन्हें सकुटुंब जगन्नाथ यात्रा करनी पड़ी। यह यात्रा जहाँ एक ओर उनकी शिक्षा में बाधक सिद्ध हुई, वहाँ उससे उन्हें अनेक प्रकार के अनुभव और नवीन

भावों और विचारों से परिचित होने के अवसर भी प्राप्त हुए। इसी समय एक ऐसी साधारण घटना घटित हुई जिसका प्रभाव उनके जीवन पर पड़े बिना न रह सका और जिसके कारण उन्हें आगे चल कर अनेक दुःख उठाने पड़े। जब वे नगर से बाहर ठहरे हुए लोगों से मिल-जुल रहे थे उस समय एक महाशय ने उन्हें चुपचाप दो अशर्फ़ियाँ दीं और कहा कि काम पड़े तो इन्हें खर्च लेना नहीं तो लौटने पर वापिस कर देना। कहा जाता है इससे उनको कर्ज़ लेने की आदत पड़ गई। उस समय काशी से रानीगंज तक रेल बन गई थी। रानीगंज से वे पैदल चले। वर्धमान में वे अपनी विमाता से रुष्ट हो गए और दैव संयोग की बात कि वही दो अशर्फ़ियाँ उनके काम आईं। बाद को इन्हीं दो अशर्फ़ियों के कारण उनकी एक दस-पन्द्रह हज़ार की हवेली उस 'हितैषी' के हाथ में चली गई। ऋण लेने की आदत के संबंध में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बुढ़वा मंगल की एक घटना का उल्लेख किया है जब कि उनकी विमाता ने उन्हें चार रुपए देने से इंकार कर दिया और उन्हें किसी से ऋण लेना पड़ा। जब वे पुरी में थे उस समय उन्होंने अंधविश्वास और अप्रामाणिकता का विरोध किया। जगन्नाथ जी के भोग के समय वहाँ के पंडे सिंहासन के समीप भैरव की मूर्ति रख देते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को यह बात बहुत खटकी और उस मूर्ति को हटवा कर ही छोड़ा।

जगन्नाथ जी की यात्रा से लौटने पर १८६६ में वे बुलंदशहर और कुचेसर गए। बुलंदशहर से उन्होंने अपने भ्रातृ-पुत्र कृष्णचंद्र को एक पत्र लिखा था जिससे यह ध्वनित होता है कि उनका चित्त घर के लोगों से बहुत दुःखी था। तत्पश्चात् १८७१ में वे फिर यात्रा करने के लिए निकले और तेतीस दिन में कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, मसूरी, हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, ब्रज, और आगरा की यात्रा कर घर वापिस आए। १८७७ में वे पुष्कर-यात्रा करने अजमेर गए और उसी वर्ष हिन्दी-वर्द्धिनी सभा द्वारा निमंत्रित होकर प्रयाग आए

जहाँ उन्होंने हिन्दी की उन्नति पर एक महत्त्वपूर्ण पद्य-बद्ध भाषण दिया। १८७६ में वे फिर निमंत्रित होकर प्रयाग आए। उस समय आर्य-नाट्य सभा द्वारा लाला श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' का अभिनय हुआ था जिसे देखने के लिए लेखक स्वयं दिल्ली से पधारे थे। इसी वर्ष उन्होंने सरयू पर, हरैया बाज़ार, बस्ती, मेंहदावल होते हुए गोरखपुर और जनकपुर की यात्रा की। इस यात्रा का उन्होंने अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। दूसरे वर्ष १८८० में वे काशी नरेश के साथ वैद्यनाथ के दर्शनार्थ गए। इस यात्रा का विवरण भी उन्होंने अत्यन्त रोचक ढंग से किया है। १८८२ में वे उदयपुर होते हुए चित्तौड़ गए। वहाँ से लौटने के बाद नवंबर, १८८४ में अत्यन्त समारोह के साथ बलिया में उनका व्याख्यान और 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' का अभिनय हुआ। अपने व्याख्यान में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वदेशी और 'निज-भाषा-उन्नति' पर ज़ोर दिया। इन स्थानों के अतिरिक्त वे डुमराँव, पटना, कलकत्ता, हरिहर क्षेत्र आदि स्थानों को भी प्रायः जाया करते थे।

देहान्त—उनकी १८८४ की बलिया यात्रा एक प्रकार से उनकी अंतिम यात्रा थी। वैसे तो वे १८८२ की उदयपुर यात्रा के बाद ही अस्वस्थ हो गए थे, किन्तु उस समय वे अच्छे हो गए थे। इस अस्वस्थता का उल्लेख उन्होंने अपने 'नाटक' के उपक्रम और समर्पण में किया है। बलिया से लौटने के अनंतर कार्य-भार और कौटुंबिक तथा अन्य सांसारिक चिंताओं[1] के कारण उनका जर्जर शरीर और अधिक भार न सह सका, और ६ जनवरी, १८८५ को

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५), 'भारत दुर्दशा' (१८८०), 'प्रेमजोगिनी' (१८७४) और 'सती प्रताप' (१८८३) में इन बातों का उल्लेख किया है।

चौंतीस वर्ष चार महीने की अवस्था में उनका देहांत हो गया। इस थोड़ी-सी आयु में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने देश और हिन्दी भाषा तथा साहित्य की जो सेवा की वह चिरस्मरणीय रहेगी।

सन्तति—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के दो पुत्र और एक पुत्री हुई थी, किन्तु पुत्रों का बाल्यावस्था में ही देहान्त हो गया। उनकी पुत्री का नाम विद्यावती था। पिता ने उनकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया था और वे हिन्दी, बँगला और संस्कृत की अच्छी ज्ञाता थीं। उनका विवाह १८८० में बुलाकीदास सोनावाले के भाई देवीप्रसाद के पुत्र बलदेवदास से हुआ था। विद्यावती के तीन पुत्रियाँ और पाँच पुत्र हुए। पुत्रियों में से एक भी नहीं बची। पुत्र सब विद्यमान हैं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यिक बाबू ब्रजरत्नदास (ननिहाल का नाम रेवतीरमणदास) इन्हीं विद्यावती के द्वितीय पुत्र हैं। विद्यावती का स्वर्गवास १९०० में और उनके पति बलदेवदास का स्वर्गवास १९२९ में हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की धर्मपत्नी मन्नादेवी ने बयालीस वर्ष वैधव्य भोग कर १९२६ में प्राण विसर्जन किए। उनमें अनेक गुण थे जिनकी लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। किन्तु वैधव्य काल में उन्हें अनेक शारीरिक कष्ट उठाने पड़े। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भाई गोकुलचन्द्र का वंश भी अब तक चल रहा है।

'भारतेन्दु' की पदवी—हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' की पदवी मिलने के संबंध में प्रायः एक घटना का उल्लेख किया जाता है। मूलम के पंडित रघुनाथ और हरिश्चन्द्र में बहुत घनिष्ठता थी। एक बार काशी के प्रसिद्ध पंडित बाल शास्त्री ने अपनी व्यवस्था से कायस्थों को क्षत्री बनाया। इस बात पर हरिश्चन्द्र ने 'जाति गोपाल की' शीर्षक से अपने मैगज़ीन में काशी के पंडितों की खिल्ली उड़ाई। पंडित रघुनाथ उनसे नाराज़ हुए और बोले: 'आपको कुछ ध्यान नहीं रहता कि कौन आदमी कैसा है, सभी का अपमान किया करते हो। जैसे आप अपने सुयश से जाहिर हो उसी तरह भोगविलास और बड़ों के सम्मान करने

से आप कलंकी भी हो, इसलिये आज से मैं आपको भारतेन्दु नाम से पुकारूँगा।'[१] अन्य उपस्थित सज्जनों तथा स्वयं हरिश्चन्द्र ने यह नाम बहुत पसंद किया। उपस्थित सज्जनों में से पं० सुधाकर द्विवेदी ने कहा : 'पूरे चाँदमें कलंक देख पड़ता है, आप दुइज के चाँद हैं जिसके दर्शन से लोग पुण्य समझते हैं।'[१] द्विवेदी जी की इस बात से सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए। इससे पहले राजा शिवप्रसाद को 'सितारे-हिन्द' की उपाधि भारत सरकार की ओर से मिल चुकी थी। इसी समय के लगभग राजा साहब और हरिश्चन्द्र में कुछ विरोध हो गया था तथा वे भारत सरकार के कोपभाजन बन गए थे। किन्तु दूसरी ओर वे जनता में अत्यधिक लोकप्रिय हो गए थे। इसलिए उन्हें 'सितारे' (नक्षत्र) से बढ़ाने का विचार जनता में उत्पन्न हुआ और २७ सितंबर, १८८० के 'सारसुधानिधि' पत्र में पं० रामेश्वरदत्त व्यास ने इस संबंध में अपना प्रस्ताव लेख रूप में प्रकाशित किया। सारे देश ने उसे स्वीकार किया और तब से वे 'भारतेन्दु' पुकारे जाने लगे। बाद में लोगों ने 'दयानंदाब्द' की भाँति 'हरिश्चन्द्राब्द' तक का प्रचार किया।

व्यक्तित्व—भारतेन्दु की चौमुखी प्रतिमा और उनके हृदय के गुणों की सभी प्रशंसा करते थे, यद्यपि उनके विलासी, अपव्ययी और समाज की रूढ़िग्रस्त नैतिकता के विरोधी होने से लोग उन्हें भला-बुरा भी कहते थे। विशेषतः उनके कुटुंबी इन बातों से बहुत नाराज़ रहते थे। इसी संबंध में माधवी और मल्लिका को लेकर उनके चरित्र पर तरह-तरह के लांछन लगाने की चेष्टा की गई है। इसमें कोई संदेह नहीं वे विलासी थे। किन्तु एक कवि का सौन्दर्योपासक होना स्वाभाविक ही है। दूसरे माधवी और मल्लिका के साथ उनका संबंध दया एवं सहानुभूति और साहित्यानुराग में परिणत हो गया था। वे उन्हें आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाकर नारीत्व के प्रति अपने सम्मान की

१. श्री ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' (१९३५)

भावना प्रकट करना चाहते थे। और जो कुछ वे करना चाहते थे उसे यथाशक्ति किया भी। श्री ब्रजरत्नदास ने 'चंद्र में कलंक' शीर्षक से माधवी और मल्लिका का जो विवरण दिया है उसमे भारतेन्दु का व्यक्तित्व और भी निखर उठता है। सच बात तो यह है कि हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन के किसी भी पक्ष को लें एक बात स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। वह बात यह है कि वे प्रेमी जीव थे। उनका हृदय अत्यंत कोमल था। संवेदनशीलता उनके जीवन का अंग थी। दूसरे का दुःख सुन या जान कर वे एक दम कातर हो उठते थे। दूसरे की सहायता करते समय उन्हें अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख की परवा न रहती थी। इस परदुःखकातरता के कारण उन्हें अर्थ कष्ट तथा घरवालों की अप्रसन्नता तक सहन करनी पड़ती थी। दान तो वे गुप्त रूप तक से देते थे। इन्हीं सब गुणों के कारण वे जनता में अत्यधिक प्रिय थे। उनका जीवन साम्य पर आधारित था। राजा से रंक तक सभी उनकी मित्र-मण्डली में थे। इसीलिए वे 'अजातशत्रु' के नाम से प्रसिद्ध भी थे। अपने समय के लगभग सभी देशी-विदेशी विद्वानों, कवियों और साहित्यानुरागियों से उनकी मित्रता थी। धन का मोह तो उन्हें कभी सता ही नहीं पाया। प्रिय से प्रिय वस्तु तक देने में उन्हें कोई संकोच न होता था। ऋणों का भार लद जाने और आर्थिक संकट आने पर भी उन्होंने अपना हाथ नहीं सिकोड़ा। फूँक-फूँक कर क़दम रखना वे जानते ही न थे। साहित्य, समाज और देश की सेवा में उन्होंने अपना सब कुछ फूँक दिया। स्वयं उन्हीं के शब्दों में :

'सत्यासक्त दयाल द्विज प्रिय अघहर सुखकंद।
जनहित कमला तजन जय शिवनृप कवि हरिचंद ॥'

उन्होंने न तो मानसिक दृष्टि से और न भौतिक दृष्टि से कुछ सञ्चय किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य, समाज और देश को जीवन भर दिया ही दिया। अपने छोटे से जीवन में उन्होंने जितना दिया

उतना सौ वर्ष के जीवन में भी संभव नहीं। वैश्य होने पर भी उनमें व्यापार-बुद्धि नहीं थी। उनमें एक प्रकार की आकुलता थी जो उन्हें अपना सब कुछ दे देने के लिए विवश करती थी। अपना तन-मन-धन वे साहित्य, समाज और देश पर वार चुके थे। अपने आदर्श और आराध्य के लिए उन्होंने अपने जीवन की बलि चढ़ा दी थी। आदर्श और आराध्य में उनकी अनन्य निष्ठा संक्रामक भी थी। जो समीप आता था वही उनके रंग में रँग जाता था। उनके जीवन में इन्द्रधनुष के समान महानता और रंगीनी विविधता थी। वही विविधता साहित्य में अवतरित हुई और उसी से सजीवता का जन्म हुआ। उनके साहित्य में एक सच्चे व्यक्ति के व्यक्तित्व का सौरभ है। उनके व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा का संबंध सीधे जीवन से था। उन्होंने अपने को किसी सीमा के बंधन में न बाँध रखा था। यही कारण है कि वे अपने पूर्ण और सच्चे व्यक्तित्व को अल्पायु में ही व्यंजित कर सके। उनका जीवन उनके व्यक्तित्व की ज्योत्सना से सिक्त एक स्वच्छ तरल प्रवाह की भाँति था। उनमें शालीनता थी। वे क्षमाशील थे और गुणियों तथा विद्वानों का आदर करना जानते थे। अनेक कष्ट सहने पर भी वे यथाशक्ति सत्य-पथ पर दृढ़ रहे। 'चंद्र टरै सूरज टरै......' उक्ति उन पर पूर्ण रूप से लागू होती है। उनकी हास्य और विनोद-प्रियता देखने की चीज़ थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व किसी बोझ से दबा न होकर मुक्त था। उनकी लेखन शक्ति और आशुकवित्व पर सभी गुणीजन मुग्ध रहते थे। उन्होंने स्वयं कहा है :—

'जग-जन-रंजन आशु-कवि, को हरिचंद समान ॥'

साथ ही उनके जीवन की कथा स्वयं उन्हीं के शब्दों में :

'सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुन गानी के।

सीधेन सों सीधे, महा बांके हम बांकेन सों,
'हरिचन्द' नगद दमाद अभिमानी के।
चाहिबे की चाह, काहु की न परवाह, नेही,
नेह के, दिवाने सदा सूरति-निवानी के।
सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधारानी के।'

दृष्टिकोण तथा सार्वजनिक कार्य--भारतेन्दु के जीवन का अध्ययन करने पर हमें कुछ ऐसी बातें ज्ञात होती हैं जिनका उनके विचारों से घनिष्ठ संबंध है। उनके पूर्वज भारत के आधुनिक इतिहास के बहुत समीप थे और उनकी गणना देश के बड़े-बड़े सेठों में की जाती थी। इसलिए भारतेन्दु का व्यक्तित्व बहुत कुछ धनिक-वर्ग, शिक्षित धनिक-वर्ग, की तथा वंशगत विशेषताएँ लिए हुआ था। पुरातन के प्रति उनका जो कुछ मोह था वह धनिक-वर्ग से संबंधित होने के कारण था, क्योंकि आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से यह वर्ग कम-से-कम परिवर्तन-प्रिय होता है और इसीलिए वह धर्म और समाज में परंपरा को बनाए रखने वाली शक्तियों का पोषण करता है। किन्तु साथ ही भारतेन्दु को अपने पिता से प्रगतिशील दृष्टिकोण और काव्य-प्रतिभा भी मिली। पिता ने यदि स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान दिया था तो स्वयं भारतेन्दु ने उनकी तर्पण क्रिया का मज़ाक बनाया। इससे पिता और पुत्र की समान मानसिक प्रवृत्ति किन्तु साथ ही अंतर ज्ञात हो जाता है। यूनिवर्सिटी की उच्च शिक्षा प्राप्त न कर घर के प्राचीन वातावरण में रह कर ही स्वाध्याय द्वारा ज्ञानोपार्जन करने के कारण वे अपने को पश्चिम के अंधानुकरण से अलग रख सके। अस्तु, जीवन की इन परिस्थितियों ने न तो उन्हें बिल्कुल प्राचीन ही बनने दिया और न बिल्कुल नवीन। भारतीय इतिहास के उस संक्रान्ति काल में संभवतः यही श्रेयस्कर भी था। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन में जगन्नाथ यात्रा तथा अन्य यात्राओं का भी महत्वपूर्ण

स्थान है। उस समय रेलों का प्रचार हो गया था, इसलिए विभिन्न स्थानों की यात्रा कर उन्होंने अपने देश की दशा अपनी आँखों देखी, विभिन्न स्थानों के रीति-रस्मों और भाषाओं से परिचय प्राप्त किया, वे नवीन भावों और विचारों के संपर्क में आए और उन्होंने बंगाल तथा अन्य प्रदेशों की साहित्यिक प्रगति देखी। यह सब कुछ रेल जैसे वैज्ञानिक आविष्कार के प्रचार द्वारा ही संभव हो सका था। जगन्नाथ-यात्रा इस दृष्टि से सब से अधिक महत्त्वपूर्ण यात्रा मानी जा सकता है। क्योंकि इसी यात्रा-काल में वे बंगाल के साहित्य तथा वहां के नवोदित विचारों और आन्दोलनों का ज्ञान प्राप्त कर सके थे। उन्हीं से प्रभावित हो जब वे घर लौट कर आए तो उन्हें हिन्दी प्रदेश और हिन्दी साहित्य में अनेक अभाव खटके। उन्हें अपने प्रदेश का जीवन और साहित्य पिछड़ा हुआ लगा। वे तुरंत ही सार्वजनिक जीवन ग्रहण कर भाषा तथा साहित्य की सेवा और उन्नति के लिए कटिबद्ध हो गए। उन्होंने जो कुछ किया काल-गति पहिचान कर। वे काल-द्रष्टा थे। भारत के अतीत के प्रति तो उन्हें असीम श्रद्धा थी ही। किन्तु साथ ही वे यह भी अच्छी तरह समझते थे कि यद्यपि अँगरेज़ों ने भारत की स्वाधीनता का अपहरण किया है, किन्तु भविष्य में उन्नति करने और जीवन में सुधार उपस्थित करने के लिए भारतवासियों को अँगरेज़ों से बहुत-सी बातें सीखनी हैं—विशेषतः ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में। इसलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी पहली यात्रा से लौट कर सर्व प्रथम १८६७ में चौखंभा स्कूल की स्थापना की जिसके द्वारा आधुनिक शिक्षा का अच्छा प्रसार हुआ और जो अब भी हरिश्चन्द्र कॉलेज के नाम से महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इसी के साथ-साथ उन्होंने 'निज भाषा उन्नति' की ओर ध्यान दिया और १८६८, १८७३ और १८७४ में क्रमशः 'कवि-वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' (जो आठ मास बाद 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' और १८८४ में 'नवोदिता' के नाम से प्रकाशित हुआ) और स्त्रियों के उपकारार्थ 'बाला-बोधिनी' नामक पत्र प्रकाशित किए।

उपयुक्त पुस्तकों के अभाव में इन पत्रों ने हिन्दी साहित्य की उन्नति और नवीन भावों और विचारों के फैलाने में कितना महत्वपूर्ण कार्य किया, यह किसी भी साहित्य के विद्यार्थी से छिपा न होगा। १८७० में उन्होंने कवितावर्द्धिनी सभा स्थापित की जिसमें सरदार, सेवक, दीनदयाल गिरि, नारायण, द्विज-कवि (मन्नालाल) आदि ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि उपस्थित होते थे। १८७३ में उन्होंने 'पेनीरीडिंग क्लब' स्थापित किया जिसमें सुलेखकों के लेख पढ़े जाते थे और तरह-तरह की मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत की जाती थी। इसी वर्ष उन्होंने वैष्णव धर्म और ईश-भक्ति के प्रचारार्थ 'तदीय समाज' की स्थापना की जिसमें गो-रक्षा-प्रचार और मदिरा-मांस-सेवन रोकने का प्रयत्न भी किया जाता था। अनन्य वीर वैष्णवों को एक प्रतिज्ञा-पत्र भरना पड़ता था। इस समाज से 'भगवद्भक्ति तोषिणी' नामक पत्रिका भी प्रकाशित होती थी जो कुछ दिनों बाद बंद हो गई। १८७४ में उन्होंने वैश्य-हितैषिणी सभा स्थापित की और अपनी पुत्री के विवाह में अश्लील गीतों का गाना बंद करा कर समाज-सुधार प्रस्तुत किया। १८७५ में उन्होंने श्री निंबार्क, श्री रामानुज, श्री मध्व और श्री विष्णु स्वामी नामक वैष्णवों के चार संप्रदायों में प्रविष्ट, प्रवीण और पारंगत नामक की तीन परीक्षाएँ स्थापित कीं। इनमें परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों को पारितोषिक भी दिए जाते थे। काशी सार्वजनिक सभा भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आरंभ की। इसके अतिरिक्त वे काशी नरेश की धर्म सभा, बनारस इन्स्टीट्यूट और ब्रह्मामृत-वर्षिणी सभा के प्रधान सहायक रहे। इन अनेक सभा-सोसायटियों के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १८६७ और १८६८ में क्रमशः यंगमैन्स एसोसिएशन और डिबेटिंग क्लब भी स्थापित कर चुके थे। क्लब का मुख्य उद्देश्य भाषा और समाज का सुधार करना था और उसमें सामाजिक विषयों पर वाद-विवाद होता था। यह पहली अँगरेज़ी सभा थी जिसका वार्षिक विवरण हिन्दी में लिखा गया। कारमाइकेल लाइब्रेरी, बाल-सरस्वती भवन के संस्थापन में वे प्रधान सहायक थे। उन्होंने आर्थिक

सहायता देकर या दिलवा कर अथवा पारितोषिक वितरण कर अथवा बौद्धिक सहायता प्रदान कर अनेक ग्रंथों के निर्माण में और पत्रों के प्रकाशन में लोगों को प्रोत्साहन दिया। १८६८ में, सर विलियम म्योर के समय में, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को राजभाषा पद दिलाने के संबंध में भी आंदोलन किया, किंतु उन्हें सफलता न मिल सकी। अपने सार्वजनिक जीवन में वे शेरिंग, हॉर्नली, कर्नल अलकॉट, ऐनी बिसेंट, राजेन्द्रलाल मित्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी प्रभृति विद्वानों और ख्याति-प्राप्त व्यक्तियों के संपर्क में भी आए थे। उनके कार्यों और विचारों की प्रतिक्रिया भारतवर्ष में ही नहीं, वरन् इँगलैंड तक में होती थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने सार्वजनिक जीवन में स्पष्टवादी थे और देशहित उनका प्रधान उद्देश्य था। यही कारण है कि राजभक्ति प्रकट करते हुए भी उन्हें भारतीय सरकार का कोप-भाजन बनना पड़ा। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द की भाँति उन्हें अपना स्वार्थ प्रिय नहीं था।

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जीवन में प्राचीन और नवीन दोनों की ओर ध्यान दिया। उन्होंने न तो प्राचीन की उपेक्षा की और न उसके मोह में बँधे। साथ ही उन्होंने न तो नवीन का अंधानुकरण किया और न उससे सशंकित ही रहे। उन्होंने जो कुछ देखा आँखें खोल कर देखा, और उनकी साहित्यिक प्रतिभा ने मणि-कांचन योग उपस्थित किया। कहा जाता है एक बार भारतेंदु के पिता तर्पण कर रहे थे। पिता का यह कृत्य देखकर बालक हरिश्चन्द्र से न रहा गया। वे बोले 'पानी में पानी डालने से क्या लाभ'। वैष्णव होते हुए भी उन्होंने ऐसा कहा, यह बात उनके धर्म और समाज-संबंधी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालती है। पुत्र के वचन सुनकर पिता बहुत दुःखी हुए और कहा 'जान पड़ता है तू कुल बोरैगा।' एक दूसरे अवसर पर बाल-कवि की प्रथम रचना देखकर पिता ने कहा था 'तू हमारे नाम को बढ़ावैगा।' और पुत्र की कविता को अपने ग्रंथ में

आदर स्थान दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पिता की दोनों बातें पूर्ण की।

जीवन-काल की परिस्थितियाँ—जिस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय भारतीय शासन ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकल कर इँगलैंड सरकार के मंत्रि-मंडल के हाथ में पहुँच चुका था, विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़ा जा चुका था और भारतवर्ष में सर्वत्र अँगरेज़ों का दुर्दम प्रताप विराजमान था। विक्टोरिया ने अपने घोषणा-पत्र में धर्म और समाज के प्रति उदासीन नीति का उल्लेख किया था। और यद्यपि समाज में उग्र नवीनतावादियों का अभाव नहीं था, तो भी विक्टोरिया के घोषण-पत्र से सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़िवादियों को ही प्रश्रय मिला। समाज और धर्म ये दो विषय ही ऐसे रह गए थे जिनके संबंध में भारतवासी स्वतंत्रता पूर्वक सोच-विचार और व्यवहार कर सकते थे, अन्यथा राजनीति के क्षेत्र में अंगरेज़ों के आतंक और १८५७ के विद्रोह की असफलता ने उन्हें हतोत्साह कर रखा था। अँगरेज़ों के पास संगठित सैनिक शक्ति थी, उनके पास वैज्ञानिक साधन थे। इसलिए देश में अपनी सत्ता दृढ़ बनाने में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो सकता था। साथ ही उन्होंने भारतवासियों में आपस में फूट और कलह उत्पन्न करने की नीति का अवलंबन ग्रहण किया। इस कूटनीति का प्रभाव पहले-पहल मुसलमानों पर पड़ा। राज्य-च्युत हो जाने के कारण मुसलमानों में सांस्कृतिक और आर्थिक संकट तो पहले ही से उपस्थित हो गया था। उस पर भी अँगरेज़ों ने, राजनीतिक कारणों से, उनके विरुद्ध हिन्दुओं का पक्षपात करना प्रारंभ कर दिया था। हिन्दू भी अपनी सामाजिक और धार्मिक हीनावस्था और कुरीतियों का मूल कारण मुसलमानी शासन-काल में ढूँढ़ने लगे थे। साथ ही मुसलमानों द्वारा किए गए सामाजिक और धार्मिक अत्याचारों को याद कर वे अँगरेज़ी राज्य की सुख-शांतिपूर्ण व्यवस्थाको सराहना करने लगते थे। यद्यपि अँगरेज़ों ने हिन्दू-मुसल-

मानों से हथियार छीन लिए थे और उन पर टैक्स लगाए जा रहे थे, तो भी हिन्दुओं की इस क्षति की पूर्ति सरकारी नौकरियों से हो रही थी। इसके अतिरिक्त इँगलैंड के मंत्रि-मंडल के हाथ में शासन-सूत्र के चले जाने से ईस्ट इंडिया कंपनी के फ़ौजी राज्य के स्थान पर वैध शासन-प्रणाली की नींव स्थापित हुई। कंपनी के राज्य से लोग ऊब चुके थे, इसलिए इस नवीन परिवर्तन का भारतवासियों ने स्वागत किया। नवीन शासन-सम्बन्धी सुधारों और विक्टोरिया के घोषणा-पत्र से भारतीय शिक्षित समुदाय में भविष्य के लिए नई आशाएँ बँधने लगीं। महारानी विक्टोरिया के सम्राज्ञी घोषित (१८७७ में) होने पर भारतवासियों ने खुशियाँ मनाईं और अपनी श्रद्धांजलि भेंट की। देश में सड़कों, रेल, तार, डाक-विभाग आदि की स्थापना से एकसूत्रता स्थापित हुई और वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा प्रदत्त सुविधाओं के कारण भारत और यूरोप का पारस्परिक संबंध भी बढ़ा। इन सब बातों से भारतेन्दुकालीन धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और साहित्यिक जीवन प्रभावित हुए बिना न रह सका। देश में युरोपीय भावों और विचारों का प्रचार तीव्रता से होने लगा। और क्योंकि भारतेन्दु के समय में कलकत्ता, बंबई, मद्रास (१८५७) और पंजाब (१८८२) विश्वविद्यालयों तथा चार्ल्स वुड की आयोजना (१८५४) के अनुसार अनेक कॉलेजों और स्कूलों की स्थापना हो चुकी थी, इसलिए अँगरेज़ी शिक्षा ने उस प्रचार की तीव्रता को और भी बल प्रदान किया। नवीन शासन-व्यवस्था और शिक्षा का अँगरेज़ी राज्य के अंतर्गत उत्पन्न मध्यम वर्ग पर अच्छा प्रभाव पड़ा और भविष्य के लिए उसमें नवीन आशाओं का संचार होने लगा। किन्तु अँगरेज़ों की साम्राज्यवादी नीति, काले गोरे की समस्या, अँगरेज़ों के सामाजिक पार्थक्य आदि ने भारतेन्दु-कालीन भारतवासियों की आशाओं पर तुषारपात कर उनमें असंतोष की भावना उत्पन्न कर दी थी। सरकार न तो भारतवासियों को उच्च सरकारी पदों पर नियुक्त करती थी और न प्रेस पर लगाए गए प्रतिबंधों द्वारा जन-

मत ही पनपने देती थी। भारतवासियों के आपस के मतभेद और झगड़ों से सरकार और भी लाभ उठाती थी। भारतवासी नवशिक्षा प्राप्त कर इलबर्ट बिल (१८८३) जैसे आंदोलनों तथा अन्य राजनीतिक माँगों द्वारा यह चाहते थे कि इँगलैंड भारत में अपना नैतिक मिशन समझे और उसे व्यावहारिक रूप देने तथा उच्च राजनीतिक आदर्श स्थापित करने की चेष्टा करे। वे इँगलैंड से अपना संबंध-विच्छेद नहीं वरन् न्याय, समानता और स्वतंत्रता (तत्कालीन अर्थ में) के सिद्धान्तानुसार ब्रिटिश नागरिकों के समान अधिकार चाहते थे, क्योंकि उन्होंने साम्राज्य को अपना लिया था। किन्तु अँगरेज़ शासक पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त, नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के संपर्क में आए हुए और ब्रिटिश राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं पर मुग्ध मध्यमवर्गीय भारतवासियों को अल्पसंख्यक कह कर उनकी माँगें टाल देना चाहते थे। भारतवासियों ने उनकी इस नीति का विरोध किया, लेकिन यह विरोध सविनय था।

इसी समय अँगरेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप भारतवासी यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का महत्व समझने लगे थे। संस्कृत शिक्षा का तो ह्रास हो गया था, किन्तु संस्कृत जानने वालों का अभाव नहीं था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में नवीन चेतना और जागृति के फलस्वरूप प्राचीन साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहन तो मिला ही, किन्तु मैक्स-मूलर तथा अन्य विदेशी विद्वानों की रचनाओं का अध्ययन कर भारतवासियों में उसके प्रति गर्व का उदय हुआ। साथ ही ऐसे लोग भी मौजूद थे जो अँगरेज़ी साहित्य को ही सब कुछ समझ कर प्राचीन ज्ञान-भण्डार को हेय और निकृष्ट समझते थे। उधर पश्चिम से आने वाला ज्ञान भी चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाला था। नवशिक्षित भारतवासी विज्ञान और बर्क, मिल, मौर्ले, स्पेन्सर आदि के विचारों से से प्रभावित हो धर्म और समाज में सुधारों, स्त्रियों की स्वाधीनता और प्रतिनिधि शासन की ओर आकृष्ट हो रहे थे। इस दृष्टि से नवशिक्षित

भारतवासियों को दो समुदायों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम तो वे भारतवासी थे जिन्हें पश्चिम ने बिल्कुल मोह रखा था। दूसरा समुदाय उन शिक्षित भारतवासियों का था जो अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने पर भी 'भारतीयता' बनाए रखना चाहते थे। किन्तु इतना निश्चित है कि नवशिक्षित भारतवासी किसी न किसी दिशा की ओर गतिशील अवश्य थे। साथ ही देशी प्रभाव भी कम शक्तिशाली नहीं थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में ही स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) ने आर्य समाज की स्थापना (१८७५) की थी। उन्होंने हिन्दी प्रदेश के सामान्य जीवन को भी स्पंदित किया और उन अनेक नवशिक्षित भारतवासियों को सन्तोष प्रदान किया जो धर्म के रूढ़िग्रस्त रूप से असन्तुष्ट थे लेकिन पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित सुधार भी उपस्थित करना न चाहते थे। आर्य समाज ने हिन्दी प्रदेश के धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया और साहित्य के लिए अनेक नवीन विषय सुझाए, यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में कोई उच्चकोटि का आर्य समाजी कवि या लेखक न हो सका। आर्य समाज ने समाज में कट्टरता और ईसाई तथा मुस्लिम धर्म-प्रचार को आघात पहुँचाया। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके अन्य सहयोगी उन नवशिक्षितों में से थे जो धर्म और समाज के परम्परागत रूप में ही काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन उपस्थित करना चाहते थे और इसी आधार पर वे आर्य समाज आन्दोलन से सहमत नहीं थे। अनेक मतों को वे भारतीय एकता के लिए घातक मानते थे। १८७६ में प्रवर्तित थियोसोफ़ीकल आंदोलन ने अँगरेज़ी-शिक्षितों में भारत के अध्यात्म दर्शन के गौरव का प्रचार किया और सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्र में अच्छा कार्य किया। इसी समय के लगभग और भी अनेक सुधारवादी आंदोलन उठ खड़े हुए जिन्होंने धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इन सब के अतिरिक्त कुछ राजनीतिक माँगों, सुधारों

और विशेष अधिकारों तक सीमित एक राजनीतिक आन्दोलन भी शुरू हो गया था जिसका अन्त इण्डियन नैशनल काँग्रेस की स्थापना में हुआ। काँग्रेस की स्थापना ह्यूम एक अँगरेज़ ने की थी। उसने नवशिक्षित भारतवासियों की आकांक्षाओं और उत्तेजना के आवेग को वैधानिक रूप प्रदान करने के लिए काँग्रेस को जन्म दिया। जिस वर्ष भारतेन्दु की मृत्यु हुई उसी वर्ष काँग्रेस का जन्म हुआ। उस समय राजनीतिक और सामाजिक सुधारवादी आन्दोलनों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। किन्तु आगे चल कर राजनीतिक कारणों से यह व्यवस्था बनी न रह सकी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में देश की आर्थिक परिस्थिति में सबसे अधिक विषमता उत्पन्न हुई। १८५७ के विद्रोह के बाद जब देश का शासन-सूत्र ब्रिटिश मंत्रि-मडल के हाथ में गया तो भारतीय जनता को सब प्रकार के सुख मिलने की आशा हुई। स्थूल रूप से तो उनकी यह आशा पूर्ण अवश्य हुई, किन्तु भीतर ही भीतर उनका जीवन खोखला होता गया। वास्तव में आर्थिक दृष्टि से ईस्ट इंडिया कंपनी और नवीन शासन-व्यवस्था में कोई विशेष अंतर नहीं था, उसका वाह्य रूप भले ही बदल गया हो। १८५६ के लगभग मेरठ और फिर दिल्ली से अँगरेज़ी में 'द इंडियन पंच' नामक पत्र निकलता था। उसमें सामयिक राजनीतिक विषयों को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था और वह अनेक व्यंग-चित्रों से सुसज्जित रहता था। उसके मई, १८५६ के अंक में एक व्यंग-चित्र है जिसमें एक द्वार दिखाया गया है। उस द्वार के दोनों ओर दो अँगरेज़ संतरी खड़े हैं। उसके दाएँ खंभे पर कुछ ऊपर की ओर लिखा हुआ है—'Victoria Regina—Late John Company—No Admittance Except on Business'। वास्तव में 'Victoria Regina—Late John Company' ये शब्द अत्यन्त सार गर्भित हैं। वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि यद्यपि वाह्य दृष्टि से शासन-व्यवस्था में परिवर्तन अवश्य हो गया था, किन्तु दोनों व्यवस्थाओं की मूलभूत नीति में कोई

अंतर नहीं था। अँगरेज़ों के आने से पहले भारतवर्ष उद्योग-धंधों की दृष्टि से काफ़ी उन्नत देश था। यहाँ का बना हुआ माल विदेशों में खूब खपता था। अँगरेज़ों के आने पर वाष्पशक्ति तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों और 'फ्री ट्रेड' जैसी आर्थिक नीतियों के सामने भारतीय जुलाहे तथा अन्य कारीगर खड़े न रह सके। मशीनों से बना हुआ सस्ता माल उलटा यहाँ आने लगा। भारतेन्दु के आविर्भाव-काल तक देश के उद्योग-धंधे नष्ट हो चुके थे और ग्राम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। फलतः देश के आर्थिक जीवन में महान् संकट उपस्थित हो गया। अपनी आर्थिक नीति के फल स्वरूप भारत की उत्पादन-शक्ति और उसके साथ लोगों की माल ख़रीदने की शक्ति कम होते देख कर अँगरेज़ों ने रेलों, सड़कों, नहरों आदि का प्रबंध अवश्य किया, किन्तु ये सब साधन इस ढंग से प्रस्तुत किए गए कि यहाँ के लोग अधिकाधिक साम्राज्यवादी आर्थिक नीति पर ही निर्भर रहें। साम्राज्यवादी आर्थिक नीति के फलने-फूलने की दृष्टि से भारतेन्दु का जीवन-काल स्वर्ण-युग समझा जाता है। उद्योग-धंधों के साथ-साथ कृषि नष्ट हुई, लोग भूखों मरने लगे, दुर्भिक्ष पर दुर्भिक्ष पड़े और बेकारी बढ़ी। इतने पर भी जनता को शासन-व्यय और साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप लड़े गए ऐबीसीनिया (१८६७), ईराक़ (१८७५), अफ़गानिस्तान (१८७८), बर्मा (१८८६) आदि युद्धों का सैनिक व्यय का भारी बोझ उठाना पड़ा। इसके अतिरिक्त १८५७ का विद्रोह दबाने, उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश की सैनिक नीति, लंदन के इंडिया ऑफ़िस, चीन में राजदूत रखने, अदन के शासन आदि का करोड़ों रुपए का ख़र्च भी भारतवासियों को सहन करना पड़ा, शासन का और सामान्य व्यय तो अलग था ही। इससे जनता के आर्थिक शोषण और दुरवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दुरवस्था का देश के सांस्कृतिक जीवन पर भी बुरा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। भारतीय पूँजीपतियों ने स्वदेशी आंदोलन अवश्य प्रारंभ किया था, किन्तु उसमें उनका स्वार्थ निहित

था। इँगलैंड से बनकर आए हुए माल के सामने उनका बनाया हुआ माल बिकता ही नहीं था। इसलिए जहाँ एक ओर उन्होंने भारतीय सरकार के सामने अपने हित की रक्षा के लिए माँगें उपस्थित कीं, वहाँ दूसरी ओर देश की जनता से देश का बना हुआ माल व्यवहार में लाने की अपील की। यहीं से स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। भारतेंदुकालीन भारत में सामन्तों का स्थान वणिक वर्ग ने ही ले लिया था।

अस्तु भारत में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए। ऐसे समय में देश को अनेक लाभ भी हुए, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। किन्तु इस लाभ के लिए कितना भारी मूल्य चुकाना पड़ा, यह सोचने की बात है। इन्हीं अच्छी-बुरी परिस्थितियों के बीच भारतवासियों ने उठ कर आगे बढ़ने की चेष्टा की। समाज, धर्म, साहित्य, राजनीति आदि लगभग सभी क्षेत्रों में हमें गतिशीलता दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए भारतेंदु हरिश्चन्द्र का जीवन-काल नवोत्थान काल का प्रथम चरण माना जाता है। एक ओर तो नवोत्थान आंदोलन अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर रहा था और दूसरी ओर उसकी दृष्टि भविष्य पर लगी हुई थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, तोताराम वर्मा, प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी तथा भारतेन्दु-मंडल के अन्य अनेक कवियों और लेखकों ने तत्कालीन जीवन के हीन और उज्ज्वल पक्षों पर दृष्टिपात कर भारतीय मंगल क्रांति के लिए शंखध्वनि की।

उन्नीसवीं शताब्दी, विशेषतः उसके उत्तरार्द्ध, का उल्लेख करते ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उस युग के प्रतिनिधि के रूप में नाम सर्वप्रथम आता है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर दृष्टि रखी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जो संक्षिप्त जीवन-वृत्त ऊपर दिया गया है उससे इस कथन की सहज ही पुष्टि हो सकती है। समाज,

धर्म, साहित्य, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में उन्होने सराहनीय कार्य किया। जन-जीवन में वे कल्याण ही कल्याण चाहते थे। उन्होंने जागरण का एक शक्तिशाली स्रोत प्रवाहित किया और सतत इस बात की चेष्टा की कि भारतवर्ष शीघ्र ही नवीन चेतना और शक्ति ग्रहण कर उन्नति-पथ की ओर अग्रसर हो। इसके लिए उन्होंने ऐक्य और निज-भाषा-उन्नति को प्रधान साधन बताया। हिन्दी की उन्नति पर उनका जो पद्य-बद्ध व्याख्यान है उस पर यदि भारतवासियों ने गंभीरतापूर्वक विचार कर उसे व्यावहारिक रूप में परिणत किया होता तो देश आज सौ वर्ष बाद न मालूम कितनी अधिक उन्नति कर लेता। उस व्याख्यान से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन की साधना के सार-तत्व और उनके व्यापक दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है। उनके व्यक्तित्व में युग की आकांक्षाएँ साकार हो उठी थीं। वे युग की सृष्टि और युग-स्रष्टा दोनों ही थे। उनकी जन्म-तिथि उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ पूर्ण साम्य रखती है—पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध, अर्थात् प्राचीन से नवीन, किन्तु साथ ही दोनों का संधि-स्थल। गंगा की घाटी में पुरातन और नवीन, पूर्व और पश्चिम, आशा और दुराशा के बीच जो संघर्ष छिड़ा हुआ था, उसकी वे अंतिम सफल परिणति के रूप में थे। सेठ अमीचंद के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है कि उन्होंने भारतीय इतिहास के निर्माण में अपना योग प्रदान किया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इतिहास की गति निर्धारित की। उन्होंने मानसिक जगत् और भौतिक जगत् दोनों का नेतृत्व किया। हिन्दी प्रदेश और साहित्य के इतिहास में उनका अपना एक निराला रोमैंटिक व्यक्तित्व है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे व्यक्ति इतिहास में बार-बार नहीं आते। वे एक सच्चे युग-स्रष्टा थे। उन्होंने सभी प्रकार से आधुनिक जीवन का और साहित्य की नींव डाली। यद्यपि आधुनिक जीवन की समस्याएँ दुरूह हो गई हैं, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी हुई हैं, किन्तु उन समस्याओं के सुलझाने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आज भी प्रकाश-स्तंभ की भाँति

हैं। हमारी आज की वाणी के मूल स्रोत वे ही हैं। वे हमारे इतिहास और समाज के लिए स्मरणीय तथा अमर बन गए हैं। स्वर्गीय श्रीधर पाठक के शब्दों में :

'जब लौं भारत भूमि मध्य आरजकुल बासा।
जब लौं आरज धर्म माँहि आरज विश्वासा॥
जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
जब लौं आरजबानी के आरज अभिमानी॥
तब लौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहिहै अटल।
नित चंद सूर सम सुमिरिहैं, हरिचंदहु सज्जन सकल॥'

२. ग्रन्थ-रचना

भारतेन्दु का उदय

भारतेन्दु-जीवन की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की क्रिया-प्रतिक्रिया से उनके साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा उससे एक बात जो प्रमुख रूप से हमारे सामने आती है वह यह है कि उसने परंपरागत मार्ग को छोड़ नवीन मार्ग का अनुसरण किया। क्योंकि जिस समय भारतेन्दु ने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया उस समय कविता अपने पुराने रास्ते पर चल रही थी। विविध अराजकता-पूर्ण परिस्थितियों के कारण न तो उच्च कोटि के मौलिक काव्य-साहित्य का सृजन हो रहा था और न कोई नवीन काव्य-धारा ही जन्म ले सकी थी। केवल पिछली शताब्दियों के पिष्टपेषण मात्र में कवियों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। काव्य में कुछ नवीन उपमाओं, रूपकों आदि का समावेश अवश्य हो गया था, किन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद स्वरूप माने जायेंगे। भाव और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से कवियों ने कोई नवीनता प्रदर्शित न की। वीर, भक्ति, और रीति की पुरानी धाराएँ अक्षुण्ण बनी हुई थीं। अधिकतर कवि परिपाटी-विहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबे हुए थे। कविता के आदर्श में अभी कोई परिवर्तन न हुआ था। वह अलंकारों से सुसज्जित और यथार्थ जीवन से पृथक थी। उधर ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से यद्यपि ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य-परंपराओं के स्थान पर खड़ीबोली की क्रमबद्ध परंपरा की स्थापना हो चुकी थी और वह अपने प्रारंभिक जीवन में ही अनेक विविध विषयों का भार-वहन कर चुकी थी, तो भी न तो उसमें परिपक्वता आ पाई थी और न उसमें ललित साहित्य का

ही निर्माण हो पाया था। ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ। उनका साहित्य और भाषा दोनों पर प्रभाव पड़ा। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने साहित्य को भी विविध विषय-संपन्न बनाया और भाषा को व्यापक रूप प्रदान किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की इस सर्वतोमुखी प्रतिभा के संबंध में स्वर्गीय शिवनन्दन सहाय का कथन है: 'इनकी रचना भी पहाड़ के सदृश है। कहीं कविता के ऊँचे-ऊँचे शिखर, कहीं नाटक की प्रशस्त प्रस्तरभूमि, कहीं इतिहास की गह्वर गुफा, कहीं परिहास का शुद्ध विकसित वन-कुसुम-समूह, वैसे ही कविता-शृंग, वैसी ही नाटक भूमि—कहीं छोटा, कहां बड़ा, कहीं वृहत्, कहीं क्षुद्र। इसी रचना पर्वत में कहीं शान्तिचित्त मुनि अपने तपोबल का तेज चतुर्दिक फैला रहे हैं—कहीं धर्मपरायण महात्मा नर-नारी निज सत्कार्य द्वारा औरों को सदुपदेश प्रदान कर रहे हैं; पुरातत्ववेत्ता पुरातन विषयों की गवेषणा कर रहे हैं, कहीं भक्ति-प्रेम का सुखद झरना झर रहा है; कहीं वीर पुरुष बड़ी चाव से शत्रुदल का अहेर खेल रहे हैं, कहीं भिन्न-भिन्न पक्षियों के कलरव के समान नाना प्रकार का गान मन में आनंद की तरंग उठा रहा है; कहीं व्यंग के कुश-कंटक रोड़े-कंकड़ भी अंगों को बेध रहे हैं; कहीं कविता का सरस सुगंध हृदय को आमोदित करता है; कहीं विविध छन्दों की बहार; कहीं शुष्कनीति की उदासी, अलौकिक छटा दिखाती है। नाना भाव तथा अनेक गूढ़ाशय के रंग-रंग के बहुमूल्य आकरज, हीरे, लाल, जवाहिर आदि इस रचना-पर्वत के गर्भ में वर्तमान हैं, जो परिश्रम ही से किसी को प्राप्त हो सकते हैं।'

साहित्यिक कार्य

वास्तव में भारतेन्दु की अल्पायु को देखते हुए उनका महान् साहित्यिक कार्य दैवी शक्ति से प्रेरित ही कहा जायगा। वैसे तो उन्होंने पाँच-छः वर्ष की अवस्था में ही एक दोहा बना डाला था, किंतु लगभग

१६ वर्ष की अवस्था से लेकर अंत समय तक वे हिन्दीसाहित्य को समृद्ध बनाते रहे। राधाचरण गोस्वामी ने अपने 'नवभक्तमाल' (१८८६) में उन्हें 'चौंसठ कला प्रवीन' कहा भी है। स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने नाटक, आख्यायिका वा उपन्यास, काव्य, स्तोत्र, अनुवाद या टीका, परिहास, धर्म संबंधी इतिहास तथा चिन्हादि वर्णन, माहात्म्य, ऐतिहासिक, राजभक्ति-सूचक, स्फुट ग्रंथ, लेख तथा व्याख्यान आदि, और संपादित, संगृहीत वा उत्साह देकर बनवाए, इन बारह शीर्षकों के अंतर्गत क्रमशः बीस, आठ, अट्ठाईस, सात, आठ, अठारह, सात, नौ, सत्ताईस, तेरह, अठारह, और पचहत्तर ग्रंथों, लेखों आदि के हिसाब से हिन्दी गद्य और पद्य, साथ ही कुछ संस्कृत, में उनकी दो सौ अड़तीस रचनाओं का उल्लेख किया है। बा० शिवनन्दन सहाय, बा० व्रजरत्नदास और बा० रामशंकर व्यास ने उनकी केवल प्रधान-प्रधान रचनाओं का उल्लेख किया है। उनके प्रमुख-प्रमुख छोटे बड़े विविध ग्रंथों के संग्रह खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर के अध्यक्ष बा० रामदीनसिंह ने 'भारतेन्दु कला' (६ भाग, १८८७-१९०१), नागरी प्रचारिणी सभा ने 'भारतेन्दु ग्रंथावली' (प्रथम और द्वितीय खण्ड), और बा० (बाद को डॉ०) श्यामसुन्दरदास ने 'भारतेन्दु नाटकावली' के नाम से प्रकाशित किए हैं। किंतु सब का आधार बा० राधाकृष्णदास द्वारा दी गई विस्तृत सूची ही है। उक्त सूची के अनुसार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अनेक रचनाएँ या तो अपूर्ण और अप्रकाशित या अप्राप्य हैं। शेष पूर्ण, प्रकाशित और प्राप्य रचनाओं में से बहुत सी ऐसी हैं जिनका प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। अस्तु, यहाँ उनकी केवल उन्हीं रचनाओं का परिचय और विवरण दिया जा सकेगा जो साहित्यिक सौन्दर्य, भाषा-शैली और विचारों की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखती हैं वैसे भी स्थानाभाव के कारण उनकी सभी कृतियों का परिचय देना असंभव है। भारतेन्दु-साहित्य में नाटकों का नाम पहले लिए जाने के कारण सर्व प्रथम उन्हीं का उल्लेख किया जाता है।

गद्य

नाटक—भारतवर्ष में आज से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व नाट्य-कला का जन्म और विकास हो चुका था। नाट्य-कला की इसी विकास-परंपरा में कालिदास, हर्ष, भवभूति आदि अनेक विश्व-विख्यात नाटककार हुए और अनेक लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। किन्तु ईसा की सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद मुसलमानी शासन-काल में नाट्य-कला उठ-सी गई थी, क्योंकि इस्लाम धर्म नाट्य-कला की अनुमति नहीं देता था। फलतः राज-सभाओं और देव-मंदिरों से सम्बद्ध रंग-शालाएँ भी नष्ट हो गईं। आधुनिक खोज से चौदहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक मैथिल कवि विद्यापति कृत 'रुक्मिणी हरण' और 'पारिजात हरण', केशव कृत 'विज्ञान गीता', यशवन्तसिंह कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय', निवाज कवि कृत 'शकुंतला', हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक', देव कृत 'देवमाया प्रपंच', महाराज विश्वनाथसिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन' आदि जैसी कुछ नाटक नाम से पुकारी जाने वाली रचनाओं का पता चला है। किन्तु उनमें नाट्य-कला के तत्वों का अभाव है। उन सब की रचना काव्य की भाँति है। रासलीला और रामलीला का प्रचार अवश्य बना रहा। लेकिन वे भी भ्रष्ट और नाट्य कला के तत्वों से हीन थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पिता द्वारा निर्मित 'नहुष' (१८५६) नाटक को विशुद्ध नाटक-रीति के अनुसार हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना है। इस पौराणिक नाटक की पूरी प्रति अप्राप्य है और वह ब्रजभाषा-मिश्रित है। अवशिष्ट भाग बा० राधाकृष्णदास ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग ६, १६०५ में छपवाया था। इस संबंध में राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८६६) का नाम कभी नहीं भुलाया जा सकता। १८६१ में उन्होंने कालिदास कृत 'शकुन्तला' का अनुवाद किया। तत्पश्चात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व हिन्दी में नाटकों का अभाव था। उन्होंने संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया था साथ ही अँगरेज़ी साहित्य के अध्ययन और बंग देश में नाटकों द्वारा जनता की दशा सुधारने के प्रयत्न से उन्हें प्रेरणा प्राप्त हुई। वास्तव में नवोत्थानकालीन नवचेतना ने भारतीय शिक्षित समुदाय को देश के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित तो किया ही था, किन्तु अँगरेज़ी नाट्य-साहित्य ने भी इस संबंध में कम योग नहीं दिया, विशेषतः जब कि भारतीय नाट्यपद्धति और एलिज़बेथकालीन (शेक्सपियर आदि की) नाट्य-पद्धति में बहुत कुछ साम्य था। मध्य युग में जो वृक्ष सूख गया था वह अनुकूल वातावरण पाकर फिर लहलहा उठा। अस्तु, बंगाल यात्रा से लौटते ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य के इस अभाव की पूर्ति की ओर ध्यान दिया। नवजागरण और नवीन आंदोलनों ने उन्हें उपादान और सामग्री प्रदान की।

गद्य-क्षेत्र में भारतेन्दु का ध्यान सर्वप्रथम नाटकों की ओर गया था। उन्होंने रूपक और उप-रूपक के भेदों के अनुसार विभिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। बाबू राधाकृष्णदास ने उनके नाटकों (२०) की सूची में सबसे पहले 'प्रवास नाटक' का उल्लेख किया है। १८६८ में उन्होंने यह नाटक लिखना शुरू किया था; किन्तु वह अपूर्ण रह गया और अब उसका कोई अंश उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'प्रेमयोगिनी', 'दुर्लभ बंधु', 'सती प्रताप', 'नवमल्लिका', 'रत्नावली', और 'मृच्छकटिक' को भी अपूर्ण बताया है। इनमें से 'प्रवास नाटक' के अनंतर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हर्ष कृत 'रत्नावली' का अनुवाद किया था। किन्तु उसकी प्रस्तावना और विष्कंभक के बाद का कोई अंश प्राप्त नहीं है। 'नवमल्लिका' के संबंध में बाबू राधाकृष्णदास का कहना है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उसे 'महानाटक बनाना चाहते थे और उसके पात्रों तथा अंकों की सूची बनाली थी, परंतु मूल नाटक थोड़ा ही सा बना था कि रह गया'। 'मृच्छकटिक' भी अपूर्ण रह गया था

और अब वह अप्राप्य है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र की अन्य शेष नाटकीय रचनाएँ तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं—अनूदित, मौलिक और अपूर्ण और जो विषय की दृष्टि से सामाजिक, धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक और राष्ट्रीय एवं राजनीतिक हैं। उनके अनूदित नाटक शब्दशः अनुवाद न होकर रूपान्तर मात्र हैं। नांदी, प्रस्तावना, काव्यांश, भरत-वाक्य आदि अनेक बातें उन्होंने अपनी ओर से अपनी रुचि के अनुसार रखी हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अनूदित नाट्य-कृतियों में 'विद्यासुंदर' (१८६८) का सर्व प्रथम स्थान है। उसकी द्वितीय आवृत्ति १८८२ में प्रकाशित हुई। 'विद्यासुंदर' की भूमिका में लेखक का कथन है : 'विद्यासुन्दर की कथा बंग देश में अति प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चौर कवि जो संस्कृत में चौरपंचाशिका का कवि है यही सुन्दर है। कोई इस चौरपंचाशिका को वररुचि की बनाई मानते हैं। जो कुछ हो विद्यावती की आख्यायिका का मूल सूत्र वही चौरपंचाशिका है।' उसी उपाख्यान को बंगाल के कवि भारतचंद्र राय ने काव्य-रूप में प्रस्तुत कर प्रसिद्ध किया और बाद में महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का आधार ले 'विद्यासुन्दर' नाटक का निर्माण किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसी नाटक का आधार लेकर अपना अनुवाद किया था। उसमें तीन अंकों में विभाजित विद्या और सुन्दर की प्रेमगाथा का अत्यंत सुंदर और रोचक वर्णन है। नाटक का प्रारंभ मंगलाचरण आदि से न होकर सीधे विषय से होता है। वर्द्धमान नगर के राजा की विदुषी कन्या विद्या से शास्त्रार्थ में सभी राजकुमार परास्त हो जाते हैं। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वह उनमें से किसी के साथ विवाह नहीं करती। अंत में कांचीपुर के राजा गुणसिंधु का पुत्र सुंदर निमंत्रित किया जाता है। सुंदर वर्द्धमान में आकर हीरा मालिन के यहाँ आकर ठहरता है और उसी के हाथ एक अत्यन्त कलात्मक माला गूँथ कर विद्या के पास भिजवाता है। विद्या उसके दर्शन की युक्ति निकालती है। यह

प्रथम अंक की कथा है। द्वितीय अंक में कामवेदना से पीड़ित विद्या का सुंदर से परिचय और अंत में दोनों का गांधर्व विवाह हो जाता है। उसकी सखियों, चपला और सुलोचना, विद्या और सुंदर में मनोविनोद, और मज़ाक के रूप में सुंदर द्वारा विद्या का एक संन्यासी के साथ विवाह होने का उल्लेख भी इसी अंक में है। तृतीय अंक में सुंदर और मालिन दोनों बंदी बनाए जाते हैं और विद्या अपना प्राण त्याग करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। किंतु परिचय प्राप्त होने पर उनका विवाह हो जाता है और वे मंगल-साज सजाते हैं। तीनों अंकों में क्रमशः चार, तीन और तीन गर्भाङ्क हैं। अंत में भरत-वाक्य नहीं है। 'विद्या-सुंदर' को नाटक कहा गया है।

१८७२ में कृष्ण मिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तृतीय अंक का अनुवाद 'पाखंड विडंबन' के नाम से हुआ। 'विद्यासुंदर' में अधिकतर गद्य का प्रयोग हुआ है, किन्तु 'पाखंड विडंबन' में पद्य का भी काफ़ी प्रयोग हुआ है। शान्ति अपनी सखी करुणा के साथ अपनी माँ, श्रद्धा, को खोजने निकलती है। दिगम्बर सिद्धान्त और भिक्षुक बुद्धागम के साथ तमोगुणी श्रद्धा को देख कर वह अत्यन्त दुःखी होती है। तत्पश्चात् दिगम्बर, भिक्षुक और कापालिक सोम सिद्धांत के बीच अपने-अपने धर्म के पक्ष-समर्थन के लिए वाद-विवाद होता है। कापालिक तलवार लेकर दिगंबर पर आक्रमण करता है। किन्तु भिक्षुक बीच-बचाव कर देता है। कपालिनी बनी हुई श्रद्धा अपने रजोगुणी रूप से भिक्षुक तथा दिगंबर दोनों का आलिंगन करती है और वे श्रद्धा की जूठी मदिरा पीते हैं। दिगंबर और कापालिक श्रीकृष्ण की भक्ति महारानी के साथ की श्रद्धा और धर्म को पकड़ना चाहते हैं। कापालिक महा भैरवी विद्या का प्रयोग करने के लिए उद्यत होता है। दोनों सखियाँ उन पापियों का मनोरथ देवी विष्णुभक्ति से कहने जाती हैं। इस प्रतीकात्मक कथा द्वारा यही दिखलाया गया है कि सांसारिक लोग किस प्रकार सात्विकी श्रद्धा से विमुख होकर तथा इन्द्रिय-जनित सुख में

पड़ कर धर्म के वास्तविक उदात्त स्वरूप को भूल जाते हैं और उसके आडंबरपूर्ण वाह्य रूप में पड़ कर झगड़ों और अधर्म की स्थापना करते हैं। भिक्षुक और दिगंबर अपभ्रंश और मारवाड़ी से मिश्रित एक विचित्र भाषा का प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं ब्रजभाषा के भी दर्शन हो जाते हैं। लेखक का झुकाव वैष्णव धर्म की ओर है। 'पाखंड विडंबन' रूपक कहा गया है।

'धनंजय-विजय' (१८७३) व्यायोग है। ग्रंथ के मूल लेखक कांचन कवि माने जाते हैं। अपने अज्ञातवास में पांडवों ने राजा विराट के यहाँ समय व्यतीत किया था। अज्ञातवास के अंतिम दिन कौरवों ने विराट की गाएँ हर लीं। अकेले अर्जुन उन सब को परास्त कर गाएँ छुड़ा लाए। राजा ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से कर दिया। इस व्यायोग में मंगलाचरण, भरत-वाक्य तथा रचना के अन्य लक्षण विद्यमान हैं। पद्यांश इस अनुवाद में भी अधिक है। व्यायोग रूपक का एक भेद है और उसमें एक अंक तथा एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है।

'कर्पूर-मंजरी' (१८७५)[1] सट्टक है जिसकी मूल रचना राजशेखर कवि द्वारा शुद्ध प्राकृत भाषा में हुई थी। संपूर्ण कथा चार अंकों में विभाजित की गई है। पहले अंक में वसंत के वातावरण में अपनी रानी सहित राजा चन्द्रपाल विदूषक कपिंजल और विचक्षणा के बीच के उपहास का आनंद उठाते हैं और जब विदूषक चिढ़कर सभा से बाहर चला जाता है तो इतने ही में प्रसिद्ध सिद्ध भैरवानंद का आगमन होता है। विदूषक तुरंत वापिस आ जाता है। जब राजा सिद्ध से आश्चर्य दिखाने के लिए कहता है तो विदूषक की इच्छानुसार विदर्भ देश के राजा वल्लभराज और रानी शशिप्रभा की अतीव सुन्दरी पुत्री कर्पूर-मंजरी बुलाई जाती है जो रानी की मौसेरी बहिन निकलती है। द्वितीय

१. बा० ब्रजरत्नदास ने १८७६ रचना-तिथि दी है।

अंक में कर्पूर-मंजरी के शृंगार-विधान, झूला-विहार आदि के वर्णन के साथ-साथ राजा और कर्पूर-मजरी के पारस्परिक आकर्षण और प्रेम का उल्लेख है। तृतीय अंक में राजा और विदूषक द्वारा अपने-अपने स्वप्नों का वर्णन, विरह से पीड़ित कर्पूर-मंजरी को राजा द्वारा प्राणदान और कोलाहल के समय रानी द्वारा राजा के साथ देखे जाने के डर से कर्पूर-मंजरी का सुरंग की राह से महल में चला जाना है। चतुर्थ अंक म कर्पूर-मजरी को महल में जाते देख रानी सुरंग का मुँह बंद करवा देती है और राजा चंद्रसेन की कन्या घनसार मंजरी से राजा का विवाह कराना चाहती है, किन्तु भैरवानंद के प्रभाव से राजा का विवाह कर्पूर-मंजरी से होता है। अंक गर्भांकों या दृश्यों में विभाजित नहीं है। यह सट्टक मंगलाचरण, भरत-वाक्य तथा अपने अन्य लक्षणों से समन्वित है। रचना में हास्य का अच्छा प्रयोग हुआ है और शृगार के लिए अनुवादक ने उत्तमोतम हिन्दी कविताओं का समावेश किया है। द्वितीय अंक में पद्माकर और देव के छद भी उद्धृत हैं।

१८७८[1] में संस्कृत के नाटककार विशाखदत्त की रचना 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद हुआ। यह एक राजनीतिक नाटक है। नंदवंश के स्वामिभक्त मंत्री राक्षस द्वारा चंद्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार कराना इस कथा का मुख्य उद्देश्य है और इसी कार्य की पूर्ति के लिए चाणक्य अपनी कूटनीति बरतता है। कथावस्तु सात अंकों में विभाजित की गई है। पहले अंक में चाणक्य सफलतापूर्वक अपनी कूटनीति प्रसारित करता है। वह राक्षस की मुहर की अँगूठी प्राप्त करता है और जाली पत्र लिखवाता है। इसी अंक में जीवसिद्धि का निर्वासन, शकटदास का

---

१. बा० ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद क्रमशः सं० १९३१ (१८७४) के फाल्गुन मास की बालाबोधिनी की संख्या से छपना आरम्भ हुआ और प्रायः तीन वर्ष तक निकलता रहा। बाद को यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

भगाया जाना, और चंदनदास की क़ैद का उल्लेख है। दूसरे अंक में चाणक्य के विपरीत राक्षस का चरित्र चित्रित किया गया है। वह स्वयं चाणक्य के जाल में फँस जाता है, चाणक्य के चर सिद्धार्थक को वह अपनी सेवा में नियुक्त करता और उसे मलयकेतु के गहने देता है। सिद्धार्थक मुहर लौटा देता है और पर्वतक के गहनों को धोखे से राक्षस के हाथ बेचा जाता है। तीसरे अंक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य की कृत्रिम कलह है। चौथे अंक में मलयकेतु राक्षस पर संदेह करता और चाणक्य के चर भागुरायण को अपना विश्वासपात्र बनाता है। पाँचवें अंक में मलयकेतु राक्षस से कलह कर पाँच साथी राजाओं को मरवा डालता है और युद्ध में बंदी बनता है। छठे अंक में चाणक्य के चर की चतुरता से बाध्य होकर राक्षस चंदनदास की रक्षा के लिए चंद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। सातवें अंक में चंदनदास के प्राण बचाने के लिए राक्षस चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार करता है। 'मुद्राराक्षस' नाटक कहा गया है और नाट्यशास्त्र के अनुसार सभी मुख्य लक्षणों से समन्वित है। नाटक में नारी-पात्र केवल चंदनदास की स्त्री के रूप में है। नाटक में शृंगार को स्थान नहीं मिला। वह वीर रस प्रधान है। संभवतः विशाखदत्त ने राजनीति के क्षेत्र में स्त्रियों को स्थान देना उचित नहीं समझा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा अनूदित 'दुर्लभ बन्धु' अर्थात् वंशपुर का महाजन शेक्सपियर कृत Merchant of Venice (मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस) का अनुवाद है। १८८० में उसका प्रथम दृश्य 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' में प्रकाशित हुआ था। अपूर्ण रह जाने पर बाद को रामशंकर व्यास और राधाकृष्णदास ने उसे पूर्ण किया। अनुवाद करते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने कुछ मित्रों और बँगला-पुस्तक 'सुरलता' से सहायता ली थी। अनुवाद में कथा को भारतीय आवरण दिया गया है। नामों का भी भारतीयकरण कर दिया गया है, जैसे ऐंटोनियो के स्थान पर अनंत, पोर्शिया के स्थान पर पुरश्री।

मौलिक रचनाओं में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) प्रहसन है। पहले अंक में राजा के पुरोहित और मंत्री द्वारा मांसाहार का समर्थन है और बंगाली तथा पुरोहित द्वारा विधवा-विवाह को शास्त्र-सम्मत बताया गया है। दूसरे अंक में वेदांती और बंगाली, शैव और वैष्णव के वाद-विवाद और रंडा-दास गंडकीदास के आ जाने से उन सब का सभा छोड़कर चले जाने का उल्लेख है। तीसरे अंक में पुरोहित द्वारा मांसाहार और मदिरा-सेवन, और राजा तथा मंत्री द्वारा वैदिकी हिंसा का समर्थन है। चौथे अंक में शैव और वैष्णव को छोड़कर अन्य सब यम द्वारा दण्डित होते हैं। शैव और वैष्णव अपनी अकृत्रिम भक्ति के कारण कैलास और बैकुंठ वास पाते हैं। लेखक ने मांसाहारियों, मद्यपान करने वालों, पशु-बलि तथा अन्य सामाजिक पाखंडों का मज़ाक बनाया है। प्रहसन के प्रारंभ में नांदी आदि और अंत में भरत-वाक्य है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५) पौराणिक आख्यान तथा क्षेमीश्वर कृत 'चंडकौशिक' के आधार पर लिखा गया किन्तु सर्वथा मौलिक नाटक है। वह उनकी सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को यह रचना अत्यधिक प्रिय थी। उसमें सत्य-प्रतिज्ञ महाराज हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कथा का चार अंकों में वर्णन है। प्रथम अंक में नारद द्वारा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा, इन्द्र की ईर्षा, इन्द्र द्वारा विश्वामित्र को भड़काये जाने और विश्वामित्र द्वारा हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा का उल्लेख है। दूसरे अंक में दुःस्वपनों के कारण महारानी शैव्या की व्याकुलता, स्वयं महाराज हरिश्चन्द्र का स्वप्न में एक ब्राह्मण को सारा राज्य दे देने और राज्य में अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण को राज्य और अपने को उसका सेवक घोषित करने, क्रोधी विश्वामित्र के आगमन, राजा द्वारा विश्वामित्र को राज-दान और दक्षिणा के लिए एक मास की अवधि माँग कर देह, दारा, सुअन, बेचने के लिए प्रस्थान करने का वर्णन किया गया है। तीसरे अंक के अंकावतार में पाप द्वारा काशी

और हरिश्चन्द्र के प्रताप, और भैरव का हरिश्चन्द्र का अंग-रक्षक नियुक्त होना है। तीसरे अंक में महीना पूरा होने पर महाराज हरिश्चन्द्र पहले शैव्या तथा रोहिताश्व को एक उपाध्याय और बटुक के हाथ और फिर स्वयं अपने को चांडाल के हाथ बेच कर विश्वामित्र का ऋण पूरा करते और दक्षिण मसान पर कफ़न का दान लेने में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस अंक के प्रारंभ में काशी और गंगा का अच्छा वर्णन हुआ है। चौथे अंक में विविध प्रकार की परीक्षाओं के बाद अंत में हरिश्चन्द्र द्वारा शैव्या से अपने मृतपुत्र के थोड़े-से कफ़न में से भी दान लेते ही महादेव, पार्वती, भैरव, धर्म, सत्य, इन्द्र, और विश्वामित्र प्रकट हो जाते हैं। विश्वामित्र क्षमा-याचना करते हैं, और महादेव, पार्वती, और भैरव हरिश्चन्द्र को आशीर्वाद तथा वरदान देते हैं। इस अंक में श्मशान के वर्णन, वीभत्स, भयानक और करुण रसों की सुन्दर अवतारणा हुई है। नाटक का प्रारम्भ नांदी-पाठ तथा अन्य आवश्यक भूमिकाओं और अंत में भरत-वाक्य के साथ हुआ है और उसमें रूपक के लगभग सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हैं। संपूर्ण नाटक में वीर (सत्यवीर और दानवीर) रस का समावेश हुआ है। प्ररोचना में लेखक ने अपने व्यक्तित्व से सम्बन्धित महत्वपूर्ण कथन किए हैं। यह नाटक १८७५ के अंत में निर्मित होकर दूसरे वर्ष 'काशी पत्रिका' में क्रमशः प्रकाशित हुआ था।

'श्री चन्द्रावली' (१८७६) नाटिका में चन्द्रावली का कृष्ण के प्रति पूर्वानुराग-जनित दिव्य प्रेम, विरह और अन्त में मिलन का सुंदर वर्णन है। कथा मूलतः पौराणिक है। भागवत और सूरदास में भी चन्द्रावली का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनमें इस कथा को अधिक विस्तार नहीं दिया गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'श्री चन्द्रावली' द्वारा अपनी पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रतिपादन किया है। प्रारंभिक भूमिकाओं और विष्कंभक के बाद पहले अंक में चन्द्रावली और सखियों के वार्तालाप से चन्द्रावली का कृ ण के प्रति उत्कट अनुराग प्रकट होता

है। दूसरे अंक में चन्द्रावली उपवन में सखियों से विरह-वर्णन और विरहोन्माद में प्रलाप करती है। इस अंक के अंतर्गत अंकावतार में कृष्ण के नाम 'चन्द्रावली की पाती' का उल्लेख है। तीसरे अंक में विरहकातरा चन्द्रावली और उनकी सखियों में बातचीत होती है और सखियाँ मिलन का उपाय ठीक करती हैं। इसी अंक में वर्षा और झूले का सुन्दर वर्णन है। चौथे अंक में जोगिनी का वेष धारण कर श्री कृष्ण आते हैं, और स्वामिनी जी की आज्ञा से मिलन स्थापित होता है। नाटिका में काव्य का आनन्द है और वह अपने सभी लक्षणों से समन्वित है। अपनी यह रचना भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को बहुत प्रिय थी। उसके व्रजभाषा और संस्कृत में भी अनुवाद हुए। प्ररोचना से लेखक के जीवन से सम्बन्धित कई बातें ज्ञात होती है।[1]

विषस्य विषमौषधम् (१८७६) भाण है जिसके एक ही अंक में भण्डाचार्य आकाश की ओर मुख कर १८७५ में बड़ौदा के गायकवाड़ को कुप्रबन्ध के कारण गद्दी से उतारे जाने और उनके स्थान पर सयाजी-राव के गद्दी पर बैठने की राजनीतिक घटना का उल्लेख करता है। इस ग्रंथ से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की स्वदेश-भक्ति का परिचय प्राप्त होता है।

'भारत जननी' (१८७७) एक छोटा-सा नाट्य-गीत (ऑपेरा) है। १८८४ में उसका तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' तथा 'मोहन चन्द्रिका' (कला ६, किरण ८, सं० १६३८, भाद्रपद) में और राधाकृष्णदास ने उसे भारतेन्दु-रचित माना है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी 'नाटक' में उसे स्वरचित कहा है। संभवतः उन्होंने दूसरे से अनुवाद करा और स्वयं शुद्ध कर उसे अपना बना लिया था। यह रचना सर्वप्रथम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७७) पत्र में प्रकाशित हुई थी। बँगला के 'भारत माता' के आशय पर उसका निर्माण हुआ है उसमें भारत भूमि और उसकी सन्तान की आपस की

---

1 बा० ब्रजरत्नदास ने इस ग्रंथ की रचना १८७९ में मानी है।

फूट, कलह, आदि के कारण दुर्दशा और भावी सुधार का वर्णन किया गया है। भारत माता एक खँडहर पर बैठी है और प्रस्तावना के बाद विभिन्न राग-रागनियों में भारत, सरस्वती, साहब, भारत-संतान, आदि अपने कथन करते हैं। धैर्य भारत को शान्ति देता है। अँगरेज़ उसकी दुरवस्था पर दुःख प्रकट कर दयालुता, निरपेक्षता, और प्रजा-पालन का वचन देता है। हिन्दू अपने कथन में कहता है कि हिन्दू अपना हिन्दूपन भूल गए हैं। अंत में लेखक का देशभक्ति से पूर्ण वक्तव्य है।

'भारत दुर्दशा' (१८८०)[1] छः अंकों में विभक्त नाट्य-रासक या लास्य रूपक है जिसमें नाटककार ने भारत के प्राचीन गौरव और उसकी वर्तमान दुरवस्था का वर्णन किया है। केवल मात्र मंगलाचरण (दो पद वाले) के बाद प्रथम अंक में एक योगी लावनी द्वारा भारत के प्राचीन गौरव, पारस्परिक फूट और कलह के फलस्वरूप यवनों के भारतागमन और भारत में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना और आर्थिक शोषण तथा दुरवस्था का वर्णन करता है। प्रथम अंक लावनी के चार छंदों में समाप्त हो जाता है। दूसरे अंक में श्मशान के टूटे-फूटे मंदिर में जहाँ कौआ, कुत्ता, स्यार घूमते हैं और अस्थियाँ इधर उधर पड़ी हैं, दीनहीन भारत अपनी दुःख गाथा सुनाते-सुनाते मूर्छित हो जाता है। निर्लज्जता 'क्या हुआ जो धनमान सब गया—एक जिंदगी हज़ार नियामत' कहती हुई उसे बचाने का प्रयत्न करती है। वह उसे उठाना चाहती है किन्तु अपने से न उठने के कारण वह आशा को पुकारती है। आशा आती है और अपने रहते हुए प्राण न निकलने देने की बात का उल्लेख करती है और निर्लज्जता के साथ भारत को उठा ले जाती है। तीसरे अंक में भारत-दुर्दैव (क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिए) सत्यानाश फ़ौजदार तथा धार्मिक-सामाजिक फूट, संतोष, अपव्यय, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात,

1. बा० ब्रजरत्नदास के अनुसार १८७६

हठ, दुर्भिक्ष आदि की सहायता से भारत के धन, बल और विद्या तीनों को नष्ट कर भारत को चौपट करता है। चौथे अंक में भारत दुर्दैव अँगरेज़ी ढंग से सजे हुए कमरे में बैठा है और रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार आदि की अपनी फौज द्वारा भारत को घेर कर उसके निश्चय नाश का उपक्रम करता है। पाँचवें अंक में एक किताबखाने में एक सभापति, एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक संपादक, एक कवि और दो देशी महाशय, इन सात सभ्यों की एक छोटी-सी कमेटी बैठी है। प्रत्येक सदस्य अपने-अपने व्यवसायानुसार भारत-दुर्दैव से भारत की रक्षा का उपाय सोचता है। वहीं पर डिसलॉयल्टी का प्रवेश होता है। वह 'इँगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफ़ा से' सबको पकड़ ले जाती है। इस अंक में भारतेन्दु ने कमेटी के सदस्यों का अत्यन्त स्वाभाविक रूप में व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है। छठे अंक में भारत-भाग्य अचेत पड़े हुए भारत को जगाने की चेष्टा करता है, वह उसके पूर्व गौरव का बखान कर उसे चेतन करना चाहता है, अँगरेज़ी राज्य में उन्नति करने की बात कहता है, किन्तु भारत के उठने की आशा न देख कर अपनी छाती में कटार का आघात कर लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अत्यन्त निराश होकर 'भारत-दुर्दशा' की रचना की। इस ग्रन्थ से उनके जीवन सम्बन्धी अनेक तत्वों, राजनीति, राज-भक्ति, स्वदेश-वत्सलता आदि सम्बन्धी विचारों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस ग्रंथ में मंगलाचरण के बाद प्रारंभिक भूमिकाएँ और अन्त में भरत-वाक्य नहीं हैं। रचना-पद्धति की दृष्टि से नाट्य-रासक या लास्य रूपक के सभी शास्त्रीय लक्षण उसमें नहीं मिलते।

'नीलदेवी' (१८८१) नवीन पद्धति के अनुसार लिखा गया ऐतिहासिक गीति-रूपक (वियोगांत) है। संपूर्ण कथानक दस अंकों में विभाजित है। पहले अंक में कथानक का प्रारम्भ न होकर हिमगिरि के शिखर पर तीन अप्सराएँ दो पदों में क्रमशः भारत की क्षत्राणियों का यश गान और प्रेम-बधाई गाते हुए दिखाई पड़ती हैं। नवीन रंगमंच

के अनुसार यह एक प्रकार का कोरस-गान है। दूसरे अंक में युद्ध के डेरे में अब्दुश्शरीफ़ ख़ाँ काज़ी से सूरजदेव की वीरता का वर्णन और किसी न किसी प्रकार उस पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख करता है। तीसरे अंक में सूरजदेव, उसकी रानी नीलदेवी और चार राजपूत पहाड़ की तराई में बैठे सोच-विचार करते दिखाए गए हैं। सूरजदेव अधर्म से न लड़ने और साहस-सहित सावधान रहने के लिए कहता है। चौथे अंक में भठियारी के यहाँ चपरगट्टू ख़ाँ और पीकदानअली का हास्य-पूर्ण वार्तालाप है। वे खाने के लोभी और धन के लालची हैं। उन्हें अपने 'माड़े-हलुए' के अतिरिक्त अपने धर्म, युद्ध आदि किसी से कोई सम्बन्ध नहीं। पाँचवें अंक में सूर्यदेव के डेरे के बाहरी प्रांत में देवीसिंह सिपाही पहरा देते हुए अपने घर की याद करता है और अन्त में यवनों की विजय की ओर संकेत है। छठे अंक में अब्दुश्शरीफ़ ख़ाँ तथा अन्य मुसलमानों की प्रसन्नता का परिचय मिलता है। सातवें अंक में सूर्यदेव एक लोहे के पिंजड़े में मूर्च्छित पड़ा दिखाया जाता है। एक देवता के गीत से चेतन होकर वह भारत की स्वाधीनता के संबंध में उद्विग्न होकर हाय-हाय करता हुआ फिर मूर्च्छित हो जाता है। आठवें अंक में मियाँ और पागल दो गुप्तचरों द्वारा सूर्यदेव के प्राणांत की सूचना मिलती है। पागल का प्रलाप अत्यन्त सारगर्भित है। नवें अंक में नीलदेवी का रुदन, क्षत्रियों द्वारा शत्रु से बदला लेने के उपायों पर विचार और अन्त में नीलदेवी के प्रस्तावानुसार युद्ध न कर कौशल से शत्रु पर विजय प्राप्त करने का निश्चय होता है। दसवें अंक में नशे में चूर अमीर की मजलिस में गायिका के वेष में नीलदेवी अमीर का वध कर डालती है और उससे संकेत प्राप्त कर कुमार सोमदेव अपने सैनिकों के साथ मुसलमानों पर टूट पड़ता है और विजय प्राप्त करता है। ग्रंथ में करुण, वीर, और हास्य रसों की अवतारणा हुई है और उससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देशवत्सलता और स्त्रियों के संबंध में उनके दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है।

'अंधेर नगरी' (१८८१) प्रहसन के छः अंकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने दिखाया है कि जिस राज्य में गुण-अवगुण का भेद नहीं वहाँ प्रजा का राजा की मूर्खता के चंगुल में फँस जाने का डर बना रहता है। कहा जाता है कि 'बिहार प्रान्त के किसी जमींदार के अन्यायों को लक्ष्य कर उसे सुधारने के लिए' उसकी रचना हुई थी। प्रथम अङ्क में महन्त अपने दो शिष्यों, नारायणदास और गोबरधनदास, में से दूसरे को भिक्षा माँगने के सम्बन्ध में अधिक लोभ न करने का उपदेश देता है। दूसरे अङ्क में बाज़ार के विभिन्न व्यापारियों के दृश्य हैं जिनकी माल बेचने के लिए लगाई गई आवाज़ों में व्यंग की तीव्रता है। शिष्य बाज़ार में हर एक चीज़ टके सेर पाता है और नगरी और राजा का नाम (अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा) ज्ञात कर और मिठाई लेकर महन्त के पास वापिस आता है। गोबरधनदास से नगरी का हाल मालूम कर वह ऐसी नगरी में रहना उचित न समझ तीसरे अङ्क में वहाँ से चलने के लिए कहता है। किन्तु गोबरधन तो वहीं रह जाता है और महन्त तथा नारायणदास चले जाते हैं। चौथे में पीनक में बैठा राजा एक फ़रियादी की बकरी मर जाने पर कल्लू बनिया, कारीगर, चूनेवाले, भिश्ती, कसाई, गड़रिया, को छोड़ कर अन्त में अपने कोतवाल को ही फाँसी का दण्ड देता है क्योंकि अन्ततोगत्वा उसके सवारी निकालने से ही बकरी दब कर मर गई थी। पाँचवें अङ्क में कोतवाल की गर्दन पतली होने के कारण गोबरधनदास पकड़ा जाता है ताकि उसकी मोटी गर्दन फाँसी के फन्दे में ठीक बैठे। अब उसे गुरूजी की बात याद आती है। छठे अङ्क में जब वह फाँसी पर चढ़ाया जाने को है गुरूजी और नारायणदास आ जाते हैं। गुरूजी गोबरधनदास के कान में कुछ कहते हैं और उसके बाद दोनों में फाँसी पर चढ़ने के लिए होड़ लग जाती है। इसी समय राजा, मन्त्री और कोतवाल आते हैं। गुरूजी के यह कहने पर कि इस साइत में जो मरेगा सीधा वैकुण्ठ को जायगा, मन्त्री और कोतवाल में फाँसी पर चढ़ने के लिए प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न हो जाती है। किन्तु राजा

के रहते वैकुण्ठ कौन जा सकता है, ऐसा कह राजा स्वंय फाँसी पर चढ़ जाता है।

मौलिक अपूर्ण रचनाओं में से 'प्रेमजोगिनी' (१८७५) नाटिका में नांदी आदि प्रारंभिक भूमिकाओं के बाद प्रथम अंक के चार दृश्यों (गर्भांकों) में काशी की वास्तविक दशा और वहाँ के गौरववान् दर्शनीय व्यक्तियों, संस्थाओं और वस्तुओं का उल्लेख है। उसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने जीवन के सम्बन्ध में भी संकेत दिए हैं। उसके प्रथम दो दृश्य काशी के छाया-चित्र या दो भले-बुरे फ़ोटोग्राफ़' के नाम से भी प्रकाशित हुए थे। 'सतीप्रताप' (१८८३) नामक गीतिरूपक सावित्री सत्यवान का पौराणिक आख्यान लेकर शुरू किया गया था, किन्तु अधूरा (चार अंक) रह गया। बाद को १८६२ में बा० राधाकृष्णदास ने उसे पूर्ण किया।

खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना से प्रकाशित 'माधुरी' रूपक के तृतीय संस्करण (१६१४, हरिश्चन्द्र संवत् ३०) के मुख पृष्ठ पर लेखक का नाम बा० हरिश्चन्द्र लिखा हुआ है। 'नाटक' में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'चंद्रावली' के बाद 'माधुरी' का उल्लेख अपने लिखे नाटकों में किया है। किन्तु राधाकृष्णदास ने उसे 'संपादित संगृहीत व उत्साह देकर बनवाए' ग्रंथों की सूची में रक्खा है। ब्रजरत्नदास उसे भरतपुर नरेश राजा दुर्जन साल के पुत्र तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्तरंग मित्र रावकृष्णदेव शरण सिंह 'गोप' कृत मानते हैं। बाँकीपुर संस्करण के पृ० ६ पर एक पद में 'गोपराज' शब्द आया भी है—'......गोपराज तन त्यागि राखि प्रन मिलि है तुरत सही ॥' किन्तु 'गोपराज' कृत पद आजाने से ही वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत नहीं है, ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'कर्पूर-मंजरी' में पद्माकर और देव के छन्द उद्धृत हैं। तब भी दो बातें उसके भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत होने में सन्देह उत्पन्न करती हैं। पहली यह है कि 'माधुरी' और 'चन्द्रावली' का कथानक और दृष्टिकोण लगभग समान

है। 'चन्द्रावली' की चन्द्रावली के स्थान पर 'माधुरी' में माधुरी है। चन्द्रावली तो मूर्च्छित होने पर योगिनी वेषधारी अपने प्रियतम (श्रीकृष्ण) के दर्शन कर लेती है, किन्तु माधुरी मूर्च्छित होकर गिर ही जाती है। दूसरी बात यह है कि दोनों ग्रन्थों की शैली में अन्तर है। जिस प्रतिभा की छाप 'चन्द्रावली' में मिलती है उसका 'माधुरी' में अभाव है। 'माधुरी' में दैवी प्रेम के अतिरिक्त वृंदावन-वर्णन आदि विषय भी हैं। मिश्रबन्धुओं ने उसकी रचना तिथि १८८३ (१६४० वि०) दी है।[1]

उपन्यास—जिस समय हिन्दी जनता केवल धार्मिक कथाओं और जादूभरी कहानियों से अपना मन बहला रही थी, उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक उपन्यासों की रचना और प्रकाशन की ओर ध्यान दिया। राधाकृष्णदास ने उनकी आख्या-यिकाओं और उपन्यास-रचनाओं में 'रामलीला' (गद्य-पद्य), 'हमीरहठ' (असम्पूर्ण अप्रकाशित), 'राजसिंह' (अपूर्ण), 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (अपूर्ण), 'सुलोचना', 'मदालसोपाख्यान', 'शील-वती', और 'सावित्री चरित्र' का उल्लेख किया है। 'सुलोचना' और 'सावित्री चरित्र' के सम्बन्ध में उन्हें सन्देह है। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' (गद्य उपन्यास) का उन्होंने 'सम्पादित, संगृहीत वा उत्साह देकर बन-वाए' ग्रंथों में उल्लेख किया है। खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर द्वारा प्रका-शित 'पूर्णप्रकाश-चन्द्रप्रभा' के १८८६ के संस्करण में वह 'भारत-

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' में अपनी निम्नलिखित नाट्य-रचनाओं का उल्लेख किया है :

'मुद्राराक्षस', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'विद्यासुंदर', 'अंधेर नगरी', 'विष-स्यविषमौषधम्', 'सती प्रताप', 'चन्द्रावली', 'माधुरी', 'पाखंड विडंबन', 'नवमल्लिका', 'दुर्लभ बन्धु', 'प्रेम योगिनी', 'जैसा काम वैसा परि-णाम', 'कर्पूर-मंजरी', 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा', 'भारत जननी', 'धनंजय विजय', और 'वैदिकी हिंसा'।

भूषण भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र लिखित' कहा गया है। सम्भवतः उसका अनुवाद करा के उन्होंने उसे स्वयं शुद्ध कर अपना बना लिया था। बंकिमचन्द्र कृत 'राजसिंह' का अपूर्ण अनुवाद बाद को राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया। १८६४ में खंगविलास प्रेस से वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम से ही प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत लेखक ने उनके 'रामलीला', 'राजसिंह', 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' और 'मदालसोपाख्यान' ग्रन्थ देखे हैं। 'रामलीला' उपन्यास कहलाने योग्य ग्रन्थ नहीं है। दशहरे के अवसर पर अभिनीत होनेवाली कथा के अनुकरण पर वह अयोध्याकांड तक की।राम-कथा का गद्य-पद्य मिश्रित सीधा-सादा वर्णन है। 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' के अपूर्णांश से प्रकट होता है कि वह कहानी न होकर सरल शैली में लिखा गया संस्मरण है। 'राजसिंह' में सिसौदिया कुल के महाराणा राजसिंह का औरङ्गजेब के विरुद्ध युद्ध, उनकी वीरता तथा उदारता और क्षत्राणियों की धर्म-रक्षा का वर्णन है। राजसिंह राजपूताने के अन्तिम वीर माने गए हैं। 'मदालसोपाख्यान' मदालसा की प्रसिद्ध कथा मात्र है। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' (रचना-तिथि ?) मराठी से अनूदित सामाजिक उपन्यास में वृद्ध-विवाह का विरोध किया गया है। पूर्णप्रकाश नायक है और चन्द्रप्रभा नायिका। बूढ़ा ढुंढिराज नवयुवती चन्द्रप्रभा से विवाह करना चाहता है। किन्तु विवाह के समय बूढ़े दूल्हे का मज़ाक बनाकर विवाह नहीं होने दिया जाता। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' उपन्यास ने हिन्दी के तत्कालीन सुधारवादी लेखकों का ध्यान काफ़ी आकृष्ट किया। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उपन्यासों की ओर ध्यान ज़रा कम दे पाए। बंगाल-यात्रा ने उन्हें नाटकों की ओर ही अधिक प्रवृत्त कर दिया था। किन्तु उपन्यास लिखने के लिए वे दूसरे लेखकों को बराबर प्रोत्साहन देते रहे।

भाषा-संबंधी—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की गद्य-रचनाओं में 'हिन्दी भाषा' नामक छोटी-सी पुस्तक का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यह पुस्तक १८८० में खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुई थी। उन्नीसवीं

शताब्दी उत्तरार्द्ध में हिन्दी भाषा-संबंधी अनेक बातें जानने की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। उस समय हिन्दी की कितनी साहित्यिक अथवा असाहित्यिक शैलियाँ प्रचलित थीं और स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र किसे हिन्दी की सच्ची जातीय शैली समझते थे, प्राचीन तथा वर्तमान भाषाओं के नमूने, भारत की विभिन्न भाषाओं की। कविताओं और विभिन्न बोलियों के उदाहरण, कजली का ऐतिहासिक विवरण, खड़ी बोली कविता के नमूने, प्रसिद्ध अँगरेज़ों के लेख (जान साहिब क्रिष्टियन मुँगेर निवासी कृत 'सत्यशतक', फ्रेडेरिक पिंकॉट का भारतेन्दु के नाम पत्र, जी० एफ़० निकल का पत्र), भारतेन्दु का ग्रियर्सन के विषय में कथन, हिन्दी की उन्नति पर पद्य-बद्ध लेक्चर (१८७७ ई० के जून महीने में हिंदी-वर्द्धिनी सभा इलाहाबाद में पढ़ा गया), कविताष्टक आदि विषय 'हिन्दी-भाषा' में हैं। 'संगीत सार' नामक छोटी-सी पुस्तक में संगीत का इतिहास तथा उसके विविध भेदों का उल्लेख किया गया है।

नाट्य-शास्त्र—अपने संस्कृत और अँगरेज़ी नाट्य-शास्त्र के अध्ययन के आधार पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' (१८८३) नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में उन्होंने देश, काल और अवस्था के अनुसार परिवर्तित दशा के प्रकाश में नाटक के लक्षण, नाटक लिखने की रीति और संस्कृत, हिन्दी तथा पाश्चात्य नाटकों का इतिहास दिया है। उसके लिखित विषय 'दशरूपक भारतीय नाट्यशास्त्र, साहित्य दर्पण, काव्य प्रकाश, विल्सन्स हिन्दू थिएटर्स, लाइफ़ आव दि एमिनेंट पर्सन्स, ड्रामेटिस्ट्स ऐंड नावेलिस्ट्स, हिस्टरी डि इटालिक थिएटर्स, और आर्य दर्शन से लिए गए हैं।' प्राचीन आचार्यों के नियम उन्होंने ग्रहण किए हैं, परन्तु अंध-भक्ति के साथ नहीं। पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र से भी उन्होंने अनेक बातें ग्रहण कीं, किन्तु अंधानुकरण की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर नहीं। बहुत से अप्रयुक्त प्राचीन नियम छोड़ देने और उस काल में प्राचीन नियमों के अशास्त्रीय प्रचलित अर्थ ग्रहण करने में उन्होंने कोई हानि नहीं समझी, जैसे, उन्होंने 'गर्भांक' को 'दृश्य' के अर्थ में स्वीकार किया।

संस्कृत में भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र का जो स्थान है, वही हिन्दी में भारतेन्दु के 'नाटक' का है। वह तत्कालीन नाटकीय दशाओं पर प्रकाश डालता है। भारतेन्दु के नाटकों का अध्ययन करते समय उससे बहुत सहायता मिलती है।

इतिहास और पुरातत्व—जिस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव हुआ था उस समय आधुनिक भारतीय इतिहास का नवोत्थान काल था जिसकी अवतारणा में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था। वे नवोत्थान काल की भावना से ओतप्रोत थे। ऐसी दशा में भारतीय इतिहास और उसके अतीत गौरव के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा का उनमें होना स्वाभाविक ही था। अतीत के इतिहास के प्रकाश में ही वर्तमान और भविष्य का निर्माण किया जा सकता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अतीत के बन्धन में अपने को जकड़ दिया जाय। प्रगति के इस मूलभूत सिद्धान्त से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भली भाँति परिचित थे। हमारे देश में वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार इतिहास-लेखन की प्रणाली का एक प्रकार से अभाव था। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में कुछ इतिहास-ग्रंथ प्रकाशित हुए थे, किन्तु अधिकतर वे विदेशी लेखकों द्वारा लिखे गए इतिहास ग्रंथों के अनुवाद मात्र थे, और वह भी पाठ्य-पुस्तकों के रूप में। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्व प्रथम इतिहास-लेखन की खोज-पूर्ण वैज्ञानिक परंपरा की नींव डाली। उनके इतिहास-सम्बन्धी ज्ञान के पक्ष में यही प्रमाण क्या कम है कि डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र तथा अन्य समकालीन विद्वान् उनसे सहायता लिया करते थे और उनके कितने ही इतिहास और पुरातत्व-सम्बन्धी लेख एशियाटिक सोसायटी के जर्नल और प्रोसीडिंग्स में प्रकाशित हुए थे। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का इतिहास-संबंधी ज्ञान बहुत ऊँचा था और अन्य अनेक लेखों के अतिरिक्त, उन्होंने इतिहास तथा पुरातत्व पर कई ग्रन्थों का निर्माण किया। खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित 'श्री हरिश्चन्द्र कला', द्वितीय भाग (१६१८), में उनके 'काश्मीर कुसुम,' 'महाराष्ट्र देश का

इतिहास,' 'रामायण का समय,' 'अग्रवालों की उत्पत्ति' (१८७१), 'खत्रियों की उत्पत्ति' (१८७३), 'बादशाह दर्पण' (१८८४), 'बूँदी का राजवंश,' 'उदयपुरोदय,' 'पुरावृत्त संग्रह,' 'चरितावली,' 'पञ्च पवित्रात्मा,' 'दिल्ली दरबारदर्पण,' और 'कालचक्र' (१८८४), ये तेरह छोटे-बड़े ग्रन्थ सग्रहीत हैं। 'कश्मीर कुसुम' में विविध ग्रन्थों के आधार पर लिखित कश्मीर का संक्षिप्त इतिहास, राजाओं की वंशावली, श्री हर्ष के सम्बन्ध में कुछ बातें, कल्हण कृत 'राजतरङ्गिणी' की समीक्षा और वर्तमान जम्बू राज-वंश का संक्षिप्त परिचय है। महाराष्ट्र देश का इतिहास' में शिवाजी (प्रथम भाग) और पेशवाओं (द्वितीय भाग) का वृत्तान्त है। 'रामायण का समय' का महत्त्व पुरावृत्त सम्बन्धी है। उसमें दिखाया गया है कि अनेक बातें जिन्हें विदेशी लोग अपनी बता कर नई मानते हैं वे सब पुरानी हैं और वाल्मीकीय रामायण के समय में वर्तमान थीं। उदाहरण के लिए शिंशिपा शीशम के वृक्ष को कहते हैं अथवा सीताफल को और वह कितना प्राचीन है, इस तथा अन्य ऐसे ही विषयों पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विचार किया है। 'बादशाह दर्पण' में मुहम्मद के जन्म से भारत में मुसलमानी राज्य के अस्तकाल तक संक्षिप्त इतिहास' तथा वंशावलियों और तालिकाओं के रूप में अन्य अनेक ज्ञातव्य बातें हैं। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुसार 'इस ग्रन्थ में तो केवल उन्हीं लोगों का चरित्र है जिन्होंने हम लोगों को गुलाम बनाना आरम्भ किया। इसमें उन मस्त हाथियों के छोटे छोटे चित्र हैं जिन्होंने भारत के लहलहाते हुए कमल बन को उजाड़ कर पैर से कुचल कर छिन्नभिन्न कर दिया।' 'बूंदी का राज-वंश' में 'बूँदी की हाड़ा राजवंशावली और अंत में कोटा की शाखा की नामावली है।' 'उदयपुरोदय' टॉडकृत 'राजस्थान,' और फ़ारसी ग्रंथ 'फ़िरिश्ता' के आधार पर लिखा गया मेवाड़ के प्राचीन काल का इतिहास है। 'पुरावृत्त संग्रह' में प्राचीन तथा मध्यकालीन प्रशस्तियाँ, दानपत्र, शिलालेख आदि मूल और अनुवाद सहित

संग्रहीत हैं। 'चरितावली' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की एक बड़ी रचना है। उसमें 'विक्रम, कालिदास, रामानुज, शंकराचार्य, जयदेव, पुष्पदेवाचार्य, वल्लभाचार्य, सूरदास, सुकरात, नेपोलियन, जंगबहादुर, द्वारिकानाथ जज, राजाराम शास्त्री, लॉर्ड मेयो, लॉर्ड लारेंस और ज़ार अलेक्ज़ेंडर द्वितीय की जीवनियाँ और अन्त में फ्रांस के फ्रांसिस प्रथम तथा नेपोलियन तृतीय, जर्मनी के चार्ल्स पंचम तथा फ्रेडेरिक विलियम, मल्हारराव, टीपू सुलतान, सिकंदर और रावण की आठ कुंडलियाँ दी गई हैं। ये जीवन चरित्र बड़ी खोज और छानबीन के बाद लिखे गए हैं।' 'पंच पवित्रात्मा' में 'मुसलमान धर्म के प्रवर्तक मुहम्मदअली, बीबी फ़ातमा, इमाम हसन और इमाम हुसेन की जीवनियाँ हैं और अंत में एक तालिका में मुहम्मद से गौस आज़म तक इक्कीस इमामों का संक्षिप्त परिचय है'। लॉर्ड लिटन (१८७७) के समय में क्वीन विक्टोरिया के भारत-सम्राज्ञी-पद धारण करने के सम्बन्ध में किए गए दिल्ली-दरबार का विशद वर्णन 'दिल्ली दरबार दर्पण' में है। 'कालचक्र' में 'सृष्टि के आरम्भ से सन् १८८४ ई० तक की संसार प्रसिद्ध घटनाओं का समय और अंत में जयपुर और भरतपुर के राजाओं के नाम उनके राजकाल सहित दिए गए हैं'—स्वामी दयानंद का समय १८७०, हिन्दी में प्रथम नाटक १८५६, हिन्दी नए चाल में ढली १८७३, हिन्दी का प्रथम समाचारपत्र (सुधाकर) १८५०, रेल का नियमित रूप से चलना १८४०, तार की ख़बर का प्रचार १८००, इन्जीन से नाव चलना १८१२, प्रथम ई० आई० आर० १८५४, ब्राह्ममत का प्रचार १८२७, विद्युतशक्ति प्रचारक बेनजामिन फ्रेंकलिन मरा १७६० आदि। 'अग्रवालों की उत्पत्ति' और 'खत्रियों की उत्पत्ति' के विषय स्पष्ट ही हैं। उनकी रचना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने ज्ञान के आधार पर की। इन सभी ग्रंथों में दी गई अनेक बातें आधुनिकतम खोजों के प्रकाश में आधार-रहित प्रमाणित हो सकती हैं, किन्तु इससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ऐतिहासिक कार्य का महत्व किसी प्रकार कम नहीं हो जाता।

इन उपर्युक्त प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्य अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ, स्फुट लेख, व्याख्यानादि उनके तथा अन्य अनेक पत्रों में प्रकाशित हुए थे। किन्तु उन पत्रों की पूरी फ़ाइलें उपलब्ध न होने के कारण उनके संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसी रचनाओं की सूची राधाकृष्णदास ने स्वरचित 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र' के अंत में दे दी है। हो सकता है ऐसी रचनाएँ भी हों जो राधाकृष्णदास के जानने में न आ सकी हों। उक्त सूची के देखने से जान पड़ता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र केवल गंभीर धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक विषयों पर ही रचनाएँ प्रस्तुत न कर सकते थे, वरन् हास्य और व्यंग्य से पूर्ण रचनाओं द्वारा भी वे अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने में सिद्धहस्त थे। 'पाँचवें पैगम्बर', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन,' 'सबै जाति गोपाल की,' 'बसंतजा,' 'अँगरेज़ स्तोत्र,' 'मदिरास्तवराज' (गद्य-पद्य), 'स्त्री दंड संग्रह,' 'परिहासिनी,' 'स्त्री-सेवा-पद्धति,' 'रुद्री का भावार्थ,' 'मेला झमेला' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। पंच के रूप में व्यंग्य और कटाक्ष ('लेवी प्राणलेवी,' 'मसिया') करने के फलस्वरूप उन्हें अँगरेज़ सरकार का कोप-भाजन भी बनना पड़ा था। 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' की रचना स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन की मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में स्थान मिलेगा अथवा नहीं, इस विषय को आधार मान कर की गई थी। इसी प्रकार सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि विषयों के आधार पर उनकी अन्य हास्य तथा व्यंग्य-पूर्ण रचनाओं का निर्माण हुआ। उनका प्रधान उद्देश्य समाज और देश को कल्याण-पथ पर आगे बढ़ाना ही रहता था।

पत्र-पत्रिकाएँ—अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक काल से ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मातृ-भाषा की सेवा करने के लिए 'कविवचन-सुधा' (१८६८) नामक मासिक, पीछे पाक्षिक और फिर साप्ताहिक, पत्र निकालना आरंभ किया था। इस पत्र को प्रारंभ में सरकारी सहायता भी प्राप्त थी। उसका सिद्धान्त वाक्य इस प्रकार था :

'खलगनन सों सज्जन दुखी मति होहिं हरि-पद मति रहै ।
उपधर्म्म छूटैं सत्व निज भारत गहै कर दुख बहैं ॥
बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होहिं जग आनँद लहै ।
तजि ग्राम-कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै ।'

'कविवचनसुधा' में प्राचीन-नवीन काव्य-रचनाएँ और गद्य-लेख प्रकाशित होते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसे जनता की सेवा हित अर्पित कर अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया था। जिस समय उसमें 'मर्सिया' नामक पंच प्रकाशित हुआ उस समय सरकार ने सहायता देनी बंद कर दी। किन्तु हिन्दी के लगभग सभी लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक उसमें लिखते रहे। राधाकृष्णदास ने लिखा है : 'कविवचनसुधा में एक बड़ा दोष यह था कि वह नियत समय पर नहीं निकलता था, इस दोष को दूर करने के अभिप्राय से तथा पंडित चिंतामणि के आग्रह से यह पत्र बाबू साहब ने उक्त पंडित जी को दे दिया। यद्यपि यह गुण तो आगया कि नियत समय पर निकलने लगा परंतु और गुण लुप्त हो गए। पडित चिंतामणि के हाथ में जाने के कई वर्ष पीछे तक भारतेन्दु जी मुख्यतः लिखा करते थे, फिर इसके अवैतनिक संपादक व्यास रामशङ्कर शर्म्मा जी रहे परन्तु सन् १८८३ ई० में इल्बर्ट बिल के आंदोलन के समय माननीय राजा शिवप्रसाद का पक्ष लेने के कारण और इन लोगों के हाथ खींचने पर इस पत्र से साधारण सहानुभूति जाती रही और सन् १८८५ ई० तक तो इसने ऐसा रग बदला कि अपने जन्मदाता तथा स्वामी भारतेन्दुजी के अकाल काल-ग्रसित होने पर, जब कि प्रायः संपूर्ण हिन्दी पत्रों ने महीनों तक काला किनारा देकर शोक प्रकाश किया, इसने एक कालम भी काला न किया। किसी प्रकार से लुढ़कता पुढ़कता थोड़े दिन और भी यह पत्र चला। अब सन् १८८५ से बन्द है।'

'कविवचनसुधा' से संतुष्ट न रहने पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८७३ के अक्तूबर महीने से 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' नामक मासिक पत्र निकाला।

आठवीं संख्या के बाद १८७४ के जून से यही पत्र 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगा। 'मैगज़ीन' में भारतेन्दु कृत 'धनंजय विजय,' 'पाँचवाँ पैगम्बर' आदि तथा अन्य अनेक सुकवियों और सुलेखकों की रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। काव्य, नाटक, पुरावृत्त, समालोचना, परिहास, कला, इतिहास आदि विविध विषयों पर उसमें लेख प्रकाशित होते थे। १८८० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उसे पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या को सौंप दिया और वह 'हरिश्चन्द्र-चंद्रिका' और 'मोहन-चंद्रिका' के नाम से प्रकाशित होती रही। दूसरे वर्ष वह बन्द हो गई। १८८४ में भारतेन्दु ने उसे 'नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित किया। किन्तु दो महीने बाद ही भारतेन्दु की मृत्यु के साथ ही साथ उसका अस्तित्व भी विलीन हो गया। 'नवोदिता' में भी 'सती प्रताप' नाटक, 'स्वर्णलता' उपन्यास आदि अनेक ग्रंथों का क्रमशः प्रकाशन होता रहा।

१८७४ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'बाला-बोधिनी' नामक स्त्रियोपयोगी मासिक पत्र निकाला था। चार वर्ष तक चलने के बाद उसका प्रकाशन बंद हो गया।

वास्तव में पहले तो गवर्नमेंट तीनों पत्रों को सहायता देती थी। बाद में असंतुष्ट हो जाने पर उसने तीनों पत्रों को दी जाने वाली सहायता बंद कर दी। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भी अर्थ-संकोच रहने लगा था। इस कारण ये तीन पत्र शीघ्र ही बन्द हो गए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जब १४ वर्ष के थे तभी से उन्होंने गद्य और कविताओं की सृष्टि प्रारंभ कर दी थी। १८६८ में 'सुधा' का जन्म भी हुआ। किन्तु वे १८७३ में 'मैगज़ीन' के जन्म से हिन्दी का पुनर्जन्म मानते हैं। 'काल-चक्र' में उन्होंने लिखा है—'हिन्दी नए चाल में ढली (हरिश्चन्द्री हिन्दी) सन् १८७३ ई०'। सच बात तो यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पत्रों और पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के विविध अंगों की पुष्टि करनी चाही और अपने इस कार्य में वे निस्संदेह सफल हुए।

काव्य

राधाकृष्णदास के कथनानुसार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम शृंगार रस की कविता की ओर ध्यान दिया और कुछ धर्म-संबंधी ग्रंथ लिखे। उस समय उन्होंने कुछ ग्रंथ तो स्वयं लिखे, कुछ दूसरों से लिखवाए और कुछ उन्होंने संग्रह-संपादन किया। इस प्रकार १८७२ से पहले और उसके बाद 'कार्तिक कर्म विधि', 'मार्गशीर्ष महिमा', 'तहकीकात पुरी की तहकीकात', 'पंचकोशी के मार्ग का विचार', 'सुजान शतक', 'भागवतशंका निरासवाद,' 'फूलों का गुच्छा', 'सुंदरी तिलक', 'प्रेम तरंग', 'गुलज़ार पुरबहार' आदि अनेक मौलिक तथा संपादित अथवा संग्रहीत काव्य-रचनाएँ प्रकाशित हुईं। इस समय की भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की उनहत्तर छोटी-बड़ी रचनाएँ और अनेक स्फुट कविताएँ उपलब्ध हैं जिनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्य-साहित्य को विविधतापूर्ण और व्यापक बनाया। यदि गद्य की ओर उनका ध्यान न जाता तो संभवतः वे काव्य-रचना और भी प्रचुर मात्रा में करते। काव्य-रचना की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक महान् साहित्यिक संगम की भाँति हैं जहाँ लगभग सभी साहित्य-धाराएँ मिल कर एक नवीन धारा को जन्म देती हैं जो फैलते-फैलते जीवन के प्रत्येक कोने को स्पर्श करने लगती है। स्थूल रूप से उनकी रचनाएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—१. परंपरानुरूप, अर्थात् वे रचनाएँ जिनमें परंपरानुसार शैलियाँ, भाव-प्रणालियाँ आदि ग्रहण की गई हैं, जो हमारा ध्यान हिन्दी साहित्य के स्वर्ण-युग—मध्ययुग—की ओर आकृष्ट करती हैं। यहाँ तक कि 'रसा' नाम से की गई उर्दू रचनाएँ भी उसी दिशा की ओर संकेत करती हैं, अंतर केवल भाषा-माध्यम का है। २. नवीनोन्मुखी रचनाएँ, जिनमें राजभक्ति, देशभक्ति, भाषोन्नति, तथा अन्य अनेक सुधार-संबंधी विचार प्रकट किए गए हैं। दूसरे शब्दों में, जिनमें नवोत्थानयुगीन भावनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई

है। परंपरानुरूप रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं—१. सांप्रदायिक और २. भक्ति तथा दिव्य-प्रेम-संबंधी। परंपरानुरूप रचनाओं के इन प्रधान भेदों के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रीतिकालीन शैली, समस्या-पूर्ति शैली आदि अन्य प्रकार की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वल्लभ संप्रदाय के अंतर्गत पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। उन्हें अपने धर्म में अनन्य आस्था थी और जहाँ तक हो सकता था स्वयं तो उसका पालन करते ही थे, साथ ही समाज में उसका प्रचार करना वे अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते थे। १८७३ में उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना भी की थी। 'तदीय समाज' के नियमों और उद्देश्यों तथा प्रतिज्ञा पत्र आदि विविध बातों का अध्ययन कर लेने पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अनन्य वैष्णवता में कोई संदेह नहीं रह जाता। वे राधा-कृष्ण के सच्चे भक्त थे और सांप्रदायिक दृष्टि से उन्होंने अनेक धर्म-संबंधी ग्रंथों की रचना की। इस प्रकार के मुख्य-मुख्य ग्रंथों में सर्व प्रथम स्थान 'भक्त सर्वस्व' (१८७०) अर्थात् श्रीचरण-चिह्न-वर्णन का है। तीन सौ तीस दोहों में कवि ने श्री युगल स्वरूप, महाप्रभु श्री आचार्य और रामचन्द्रजी के चरणों के अगाध चिह्नों के संबंध में भाव लिखे हैं। अधिकांश भाव युगलस्वरूप के संबंध में और भागवत के अनुसार लिखे गए हैं। 'कार्तिक स्नान' (१८७२) के उन्नीस दोहों, एक सोरठा, दो सवैया और पचीस पदों में राधाकृष्ण के प्रति भक्ति और दीपदान लीला का वर्णन है। कहा जाता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक बार गंगा-स्नान के लिए न जा सके थे इसलिए प्रस्तुत ग्रंथ की रचना हुई। 'वैशाख-महात्म्य' (१८७२ ?) के तिरानवे दोहों में पुराणसम्मत वैशाख-विधान का वर्णन है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अत्यधिक प्रिय दोहा 'भरित नेह नव नीर सों बरसत सुरस अथोर। जयति अलौकिक धन कोऊ लखि नाचत मनमोर ॥' सर्व प्रथम इसी ग्रंथ के प्रारंभ में आता है। 'देवी छद्म लीला' (१८७३) और 'प्रातःस्मरण मंगल-पाठ' (१८७३) में अठारह पद और छब्बीस छन्दों में ब्रजबालाओं द्वारा छद्म रूप में देवी-लीला

और युगलस्वरूप का प्रातः-मंगल और आचार्य-महिमा का उल्लेख है। इसी प्रकार 'तन्मय लीला' (१८७४), 'दानलीला' (१८७४ ?), 'रानी छद्म-लीला' (१८७४), 'प्रबोधिनी' (१८७४), 'स्वरूप चिन्तन' (१८७४, वैष्णव आचार्यों के संबंध में), 'श्री पंचमी' (१८७५, फगुआ-वर्णन), 'श्रीनाथ स्तुति' (१८७७), 'अपवर्गदाष्टक' (१८७७, वैष्णव आचार्यों के संबंध में), 'अपवर्ग पंचक' (१८७७), 'प्रातः स्मरण स्तोत्र' (१८७७), 'वैष्णव सर्वस्व' (चारों आचार्यों तथा संप्रदायों आदि का उल्लेख), 'वल्लभीय सर्वस्व', (वल्लभाचार्य के संबंध में), 'तदीय सर्वस्व' (१८७४, नारदीय भक्ति-सूत्र का अनुवाद), 'भक्ति सूत्र वैजयंती' (शांडिल्य कृत भक्ति-सूत्र का अनुवाद), 'उत्सवावली', 'पुरुषोत्तम मास विधान', आदि छोटे-छोटे ग्रंथों की रचना वैष्णव धर्म के सांप्रदायिक रूप के आधार पर हुई है।

भक्ति तथा दिव्य प्रेम-संबंधी रचनाओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सच्चा व्यक्तित्व झलकता है। वास्तव में उनके जीवन का केन्द्र-विन्दु प्रेमाधारित भक्ति ही थी और भौतिक वातावरण में पालित-पोषित होते हुए भी उन्होंने एक सच्चा भक्त-हृदय पाया था। उनका 'प्रेम मालिका' (१८७१) ग्रंथ लीला, दैन्य-भाव और परम प्रेममय अनुभव-संबंधी कीर्तनों का संग्रह है। उसमें सौ पद हैं। ग्रंथ में उपालंभ और कटूक्तियों के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। 'प्रेम सरोवर' (१८७३) में केवल इकतालिस दोहे हैं जिनमें 'चातकाभिमानी' कवि ने अक्षय तृतीया के दिन अपनी 'प्यास' बुझाने के लिए 'जल-दान' माँगा है। ग्रंथ में प्रेम के मार्ग की कठिनाइयों, प्रेम के महत्त्व और उसकी वास्तविक परिभाषा आदि का उल्लेख हुआ है। प्रेम के अक्षय सरोवर में 'प्यारे' और उसके जनों को नित्य नहाना होगा। वहाँ प्रेमियों की भीड़ नित्य लगी रहेगी और अधिकारी के अतिरिक्त वहाँ और कोई न आने पावेगा। 'प्रेमाश्रु-वर्षण' (१८७३) में कवि कहता है कि 'यह प्रेमाश्रु की वर्षा है, इससे जी बहलाओ, पर जीवितेश तुम भी कभी बरसो'। कवि ने वर्षा

ऋतु में युगल-स्वरूप की प्रेम-क्रीड़ा तथा तत्संबंधी दृश्यों का वर्णन किया है। उसमें छियालीस पद हैं। 'प्रेम माधुरी' (१८७५) में प्रधानतः सवैयों (दो दोहे और १३१ सवैयों) का प्रयोग हुआ है। इस ग्रंथ में प्रेम का सरल-स्वाभाविक किन्तु साहित्यिक माधुर्य और सौष्ठव से पूर्ण अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रेम का ऐसा उत्कृष्ट वर्णन स्वयं उनके अन्य ग्रंथों में ही नहीं वरन् अन्य कवियों की रचनाओं में भी दुर्लभ है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अपनी यह रचना बहुत पसन्द थी। उनकी रीतिकालीन श्रृंगारिक शैली की रचनाओं के अति श्रेष्ठ उदाहरण भी इस ग्रंथ में मिलते हैं। 'प्रेम-तरंग' (१८७७) में कृष्ण-संबंधी प्रेम का वर्णन तो है ही, किन्तु साथ ही सामान्य प्रेम का भी उल्लेख हुआ है, यद्यपि उसमें अलौकिक प्रेम की ओर संकेत अवश्य पाए जाते हैं। इस ग्रंथ में कवि ने विभिन्न रागों (७८+७), लावनियों (११), रेख़ता (३), बँगला गान (४६), और ग़ज़लों (२) का प्रयोग किया है। रागों में कहीं-कहीं पर पंजाबी और बँगला में भी रचनाएँ पाई जाती हैं। हिन्दी के अंतिम तीन पदों और बँगला गान में 'चन्द्रिका' उपनाम आया है। लावनियों, रेख़ता और ग़ज़लों की भाषा उर्दू मिश्रित खड़ी बोली है। 'प्रेम-प्रलाप' (१८७७) में कृष्ण के प्रति उपालंभ, विनय, दर्शनाभिलाषा, प्रेम, सौन्दर्य, दैन्य आदि विषय हैं। कुछ पद वल्लभ और विट्ठल के प्रति भी संबोधित हैं। ग्रन्थ में यद्यपि कवित्त, सवैया, गुजराती भाषा में गरबा, अष्टपदी, लावनी, गीत आदि का प्रयोग हुआ है, तो भी पदों की प्रधानता है। यद्यपि मूलतः 'प्रेम-प्रलाप' नाम से पचास पद छपे थे, किन्तु सभा के संस्करण में कुछ और मिला कर सब की कुल संख्या छिहत्तर है। कुछ पदों और कवित्त तथा सवैयों में उपालंभ और जीव के दैन्य का अच्छा वर्णन हुआ है। 'होली' (१८७९) में कृष्ण और ब्रज-जीवन से सम्बन्धित होलिकोत्सव पर गाए जाने योग्य ७९ पद (एक रेख़ता) हैं जिनमें से दो 'माधवी' द्वारा लिखित हैं। 'मधु मुकुल' (१८८१) में भी होली (फाग)

से सम्बन्धित कुल मिला कर इक्यासी पद हैं। इस ग्रन्थ में 'जुरि आए फाँके-मस्त होली होय रही' और 'भारत मैं मची है होरी' ये दो रचनाएँ भारत की तत्कालीन अधोगति पर प्रकाश डालती हैं। इसके अतिरिक्त 'होली लीला' नामक लंबी कविता, एक होली की लावनी, एक होली की ग़ज़ल, तीन राजस्थानी में पद, एक पद पंजाबी में, होली, बन्दर सभा, संस्कृत राग बसन्त, और एक पद 'माधवी' द्वारा लिखित उसकी अन्य विशेषताएँ हैं। 'राग-संग्रह' का कुछ अंश १८८० (सं० १९३७) की 'हरिश्चन्द्र-चंद्रिका' और 'मोहन-चंद्रिका' में प्रकाशित हुआ था। १८८४ में पूर्ण संग्रह प्रथम बार प्रकाशित हुआ। उसमें जल-विहार, गोवर्धन-पूजा, ग्रीष्म-ऋतु, श्री नृसिंह-चतुर्दशी, मकर संक्रान्ति, महाप्रभु वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, गिरिधर आदि की बधाइयाँ, बाल-लीला, दान-लीला, प्रबोधिनी, दीनता, ब्याहुला, श्री स्वामिनी जी की बधाई, रथ-यात्रा, गणेश चतुर्थी, राम नौमी व दशहरा-कीर्तन, जागरण, सेहरा, दान-एकादशी, बावन-द्वादशी, रास, मरन, जाड़े में पौढ़िबे, पालना, बड़े गिरिधर जी, रघुनाथ जी, गोपी नाथ जी, घनश्याम जी, गोविन्द-राय जी, बालकृष्ण जी, गोकुलनाथ जी, यदुनाथ जी, साँझी आदि से सम्बन्धित १४१ पद हैं। 'वर्षा-विनोद' (१८८०) में कजली, लावनी, दोहा, ग़ज़ल, संस्कृत की कजली, बारहमासा और अधिकतर पद हैं जिनकी कुल संख्या १३० है और जिनमें प्रारम्भ में वर्षा-सम्बन्धी और बाद को कृष्ण, राधा, चन्द्रावली का जन्म, बधाइयाँ झूला, प्रेम, तथा अन्य विविध लीलाओं का वर्णन है। 'भारत में एहि समय भई है,' 'देखो भारत ऊपर,' 'काहे तू चौका लगाय जयचँदवा,' 'टूटै सोमनाथ के मंदिर' और 'धन धन भारत के सब छत्री' में भारत की अतीत तथा तत्कालीन दशाओं का वर्णन है। 'विनय-प्रेम-पचासा' (१८८१) में विनय, दीनता और ज्ञान-संबंधी पद, छप्पय और कवित्त हैं, सब मिला कर जिनकी संख्या पचास है। इस ग्रंथ में उर्दू-शैली के अनुकरण पर कुछ खड़ीबोली की रचनाएँ भी सम्मिलित हैं। 'फूलों का गुच्छा'

(१८८२) के समर्पण में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कथन है : 'मेरे प्राण-प्रिय मित्र !......... अनेक दिन पीछे तुम्हारे दर्शन करने आया हूँ, इससे यह "फूलों का गुच्छा" तुम्हारे जी बहलाने के लिए लाया हूँ।' इस छोटे-से ग्रन्थ में ज्ञान वैराग्य और भक्ति-संबंधी १३ लावनियाँ हैं जिनकी भाषा में अनेक उर्दू शब्दों का मिश्रण है। 'प्रेम-फुलवारी' (१८८३) के प्रारंभ में कवि ने कहा है : 'मेरे प्यारे, तुम्हें कुंजों में वा नदियों के तट पर फिरते प्रायः देखा है और इससे निश्चय होता है कि तुम बड़े सैलानी हो। पर यों मन-मानी सैल करने मैं तुम्हारे कोमल चरनों में जो कंकरियाँ गड़ती हैं, वह जी में कसकती हैं। इससे मैंने रच रच कर यह फुलवारी बनाई है, सींचते रहना.........।' इस ग्रंथ में जगत-पावन-करन प्रेम का वर्णन है और वह भूमि, वृत्त, फूल, और फल नामक चार भागों में विभाजित है तथा उसके अंत में ('नवोदित हरिश्चन्द्रचंद्रिका,' नवंबर, सन् १८८४ की संख्या से उद्घृत) ८१ से ६१ पद तक श्री स्वामिनी जी की स्तुति के संबंध में पद हैं। पदों की पूर्ण संख्या ६३ है। 'कृष्ण-चरित्र' (१८८३) के एक कवित्त, दो सवैयों और शेष अड़तालिस पदों में कृष्ण-संबंधी क्रीड़ाएँ तथा लीलाएँ और कुछ गंगा-स्तुतियाँ हैं।

इन प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'दैन्य-प्रलाप' (१८७३), 'उरहना' (१८७३), 'संस्कृत लावनी' (१८७४), 'श्री सर्वोत्तम स्तोत्र' (१८७६), 'निवेदन पंचक' (१८७६), 'वेणु-गीति' (१८७७), 'पुरुषोत्तम पंचक' (१८७७), आदि अन्य छोटी छोटी रचनाएँ हैं जिनमें उन्होंने कृष्ण, राधा, चंद्रावली, वंशी, वल्लभ आदि से संबंधित अपनी सामान्य भक्ति के उद्गार प्रकट किए हैं। स्फुट समस्या' (१८७४), 'मानलीला-फूल-बुझौवल' (१८७६) तथा अन्य स्फुट कविताओं में भी उनके भक्ति, प्रेम और शृंगार-संबंधी भाव मिलते हैं। 'भीष्मस्तवराज' (१८७६) के दस पदों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भीष्म के माध्यम द्वारा अपनी कृष्ण-भक्ति प्रकट की है। 'श्री सीता-

वल्लभ-स्तोत्र' (१८७६) संस्कृत में हैं और उसमें तीस श्लोक हैं। कृष्ण-भक्ति होते हुए भी सीता-वल्लभ-स्तोत्र लिखना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। उनके इसी व्यापक दृष्टिकोण और धार्मिक सहिष्णुता का परिचय 'जैनकुतूहल' (१८७३) नामक एक बड़ी और प्रसिद्ध रचना से भी प्राप्त होता है। कहा जाता है कि जैन-मंदिर में जाने के कारण निंदनीय ठहराए जाने से उन्होंने इस ग्रंथ का निर्माण किया था। उसके छत्तीस पदों में उन्होंने हिन्दू, जैन तथा अन्य विभिन्न मतों की एकता स्थापित की है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की परंपरागत रचनाओं 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (१८७६-१८७७), 'गीत गोविंदानंद' (१८७७-१८७८) और 'सतसई-शृंगार' (१८७५-१८७८) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। 'उत्तरार्द्ध भक्त-माल' में मंगलाचरण, आचार्य-परंपरा की वंदना, उपक्रम और स्ववंश वर्णन के बाद उन्होंने भक्तों का वृत्तान्त प्रारंभ किया है। 'उपक्रम' में उनका कथन है :

'नाभा जी महराज ने भक्तमाल रस जाल।
आलबाल हरि-प्रेम की बिरची होइ दयाल ॥३८॥
ता पाछें अबलौं भए जे हरि-पद-रत-संत।
तिनके जस बरनन करत सोइ हरि कहँ अति कंत ॥३९॥
कबहुँ कबहुँ प्रसंग-बस फिर सों प्रेमी नाम।
ऐहैं या नव-ग्रंथ मैं पूरब-कथित ललाम ॥४०॥
भक्तमाल जो ग्रंथ है नाभा-रचित विचित्र।
ताही को एहि जानियो उत्तर भाग पवित्र ॥४१॥'

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाभादास और प्रियदास का कार्य पूर्ण किया। सब से पहला छप्पय विष्णु स्वामी के संबंध में है। ग्रंथ में उनहत्तर दोहे और एक सौ इकतालिस छप्पय और अंत में एक श्लोक है। 'गीत गोविंदानंद' के संबंध में उन्होंने लिखा है :

...'रसिक-राज बुध-वर विदित प्रेमी प्रिय-पद-सेव।
राधा-गुन गायक सदा मधु-बच जय जयदेव ॥
कहँ कविवर जयदेव-बच कहँ मम मति अति हीन।
पै दोउ हरि-गुन-गामिनी एहि हित यह स्रम कीन ॥
रसिकराज जयदेव की कविता को अनुवाद ।
कियो सबन पै नहिं लह्यौ तिन मैं तौन सवाद ॥
मेटन को निज जिय खटक उर धरि पिय नँदनन्द।
तिनहीं के पद-बल रच्यो यह प्रबंध हरिचंद ॥
जिमि बनिता के चित्त मैं नहिं कछु हास-बिलास।
पै जेहि सो प्रिय सो लहत वाहू मैं सुखरास ॥
तैसहि गीत-गुविंद अति सरस निरस मम गीत ।
पै जिन कहँ प्रिय तौन ते करिहैं यासों प्रीत ॥'

प्रारंभिक भूमिका के सात दोहों के बाद ३ सवैयों, २ दोहों और ३ पदों में मंगलाचरण है। तत्पश्चात् 'सामोद दामोदरः' नामक प्रथम सर्ग (२ पद), बीच में बिना नाम के ८ पद, और फिर 'नागर नारायण' नामक सप्तम सर्ग (१२ पद) हैं। अंत में तीन दोहे हैं जिनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कहना है :

'अष्टपदी चौबीस इमि गाई कवि जयदेव।
भाषा करि हरिचंद सोइ कही प्रेम-रस भेव ॥
गुप्त मंत्र सम पद सबै प्रगटै भाषा माहिं।
यह अपराध महा कियो यामें संसय नाहिं ॥
छमिहैं निज जन जानि सो जुगल दास तकसीर।
हरिहैं अपनो समुझि जिय कठिन मोह-भव-पीर ॥'

'सतसई सिंगार' में बिहारी की प्रसिद्ध 'सतसई' के पचासी दोहों पर कुंडलियाँ हैं। वैसे तो एक दोहे पर एक ही कुंडलिया है, किन्तु किसी-किसी दोहे पर तीन या चार कुंडलियाँ तक हैं। इसलिए कुल कुंडलियों

की संख्या १०५ (एक सौ पाँच) है। कुंडलियाँ बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। बिहारी के समस्त दोहों पर कुंडलियाँ लिखने का समय संभवतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को न मिल सका।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नवीनोन्मुख रचनाओं में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप उत्पन्न जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों और भावों एवं विचारों का उल्लेख हुआ है। अँगरेज़ी राज्य के सुख, राज्यभक्ति, आर्थिक शोषण, भारतीय गौरव और पतन, भाषा-समस्या, पश्चिम से उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में विविध सुधार तथा उन्नति के साधन जुटाना आदि अनेक बातें इन नवीनोन्मुख रचनाओं में पाई जाती हैं। अपने विचार-स्वातंत्र्य के कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को गवर्नमेंट का कोप-भाजन भी बनना पड़ा था। किन्तु इस बात की उन्हें तनिक भी चिन्ता न थी। देश का हित और कल्याण ही उनके लिए सर्वोपरि था। 'स्वर्गवासी श्री अलबरत वर्णन अंतर्लापिका' (१८६१) १४ दिसंबर, १८६१ को क्वीन विक्टोरिया के पति प्रिंस एलबर्ट की मृत्यु के अवसर बनी ४ छप्पयों की अंतर्लापिका है। 'श्री राजकुमार-सुस्वागतपत्र' (१८६६) ड्यूक ऑव एडिनबरा के भारतागमन के अवसर पर लिखा गया था। यह 'पत्र' गद्य-पद्य-मिश्रित है। कवित्त और दोहा छंदों का और साथ ही एक षट्ऋतु-रूपक का प्रयोग हुआ है। कवित्तों और दोहों की संख्या १४ है। 'सुमनोऽञ्जलिः' (१८७०) में ड्यूक ऑव एडिनबरा की काशी-यात्रा के सम्बन्ध में बापूदेव, राजाराम बेचनराम, ढुँढिराज, विश्वनाथ, विनायक शास्त्री आदि के संस्कृत श्लोक और साथ ही नारायण और हनुमान कवि की हिंदी कविताएँ संग्रहीत हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक कवित्त 'काशी में ग्रहण के हित महाराज-कुमार के आने के हेतु' लिखा। १८७१ के नवंबर में टाइफ़ॉयड (विषम) ज्वर के कारण कई दिनों तक प्रिंस ऑव वेल्स की अवस्था कष्ट साध्य हो गई थी। उस अवसर पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८७१ में 'श्रीमान् प्रिंस आफ़ वेल्स के पीड़ित होने पर कविता' की रचना की। कविता

में केवल ६ दोहे हैं। १८७४ में क्वीन विक्टोरिया के द्वितीय पुत्र ड्यूक ऑव ऐडिनबरा का विवाह रूस की राजकुमारी ग्रैंड डचेज़ मेरी के साथ होने के उपलक्ष्य में 'मुँह-दिखावनी' (१८७४) का २० दोहों में निर्माण हुआ। यह कविता 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' (१५ फ़रवरी) में प्रकाशित हुई थी। १८७५ में प्रिंस ऑव वेल्स (सम्राट् सप्तम एडवर्ड) के भारतागमन के अवसर पर 'श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन' (१८७५) नामक कविता ४१ दोहों में लिखी गई जो 'बाला बोधिनी' (खं० ३, सं०६, सं० १९३२) में प्रकाशित हुई थी। 'भारत भिक्षा' (१८७५) में भारत-जननी युवराज के सामने अपनी भक्ति प्रकट करती और माँगें रखती है। इस कविता में विविध पद्य-संख्या ८१ है। कहा जाता है कि 'भारत भिक्षा' की रचना बा० हेमचन्द्र बनर्जी की कविता की छाया लेकर हुई और उसका प्रकाशन 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' (ख० २, सं० ८-१२, सन् १८७५, मई-सितंबर) में हुआ। 'विजयिनी-विजय-वैजयंती', 'भारत-वीरत्व' और प्रस्तुत रचना के बहुत-से पद एक दूसरे में सम्मिलित कर लिए गए थे। 'मानसोपायन' संग्रह है जिसमें १८७५ में प्रिंस ऑव वेल्स के भारतागमन के समय आमंत्रित की गईं संस्कृत, हिन्दी, बँगला, तामिल, पंजाबी, मराठी, गुजराती, उर्दू, अँगरेज़ी आदि में रचित कविताएँ हैं (कवित्त, दोहे, छप्पय, पद आदि)। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक पद और एक गुजराती में कविता लिखी थी। प्रारम्भिक गद्यांश में उन्होंने अपने राजभक्ति पूर्ण उद्गार प्रकट किए हैं। यह संग्रह १८७७ में प्रकाशित हुआ और महारानी के भारत-राजराजेश्वरी-पद ग्रहण करने के अवसर पर युवराज को भेंट किया गया। 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (१८७७) जून मास में हिन्दी-वर्द्धिनी सभा, प्रयाग में दिया गया था। ९८ दोहों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाषा की उन्नति को सब उन्नति का मूल बताया है। इस रचना से उनके भाषा-प्रेम और देशभक्ति संबंधी विचारों पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। १८७७ के दिल्ली-दरबार के अवसर पर रचित 'मनोमुकुलमाला' (१८७७) में

राजराजेश्वरी के चरणों में समर्पित अँगरेज़ी—फ़ारसी वर्णों (वर्णचित्र) तथा नागरी अंकों अंकचित्र) से सुसज्जित वाक्यों का क्रमशः ६ और ६ दोहों में पुष्पोपहार, ७ दोहों में एक स्वाभाविक भाषा में कविता, एक रंग चित्र का दोहा, संस्कृत (४ छंद) में राजराजेश्वरी की स्तुति और एक ग़ज़ल (१८७६) है। 'भारत-वीरत्व' (१८७८) की रचना अफ़ग़ान-युद्ध के छिड़ने पर हुई थी। इसमें भारतीय सेना की प्रशंसा और भारतीय नरेशों से अँगरेज़ों को सैनिक सहायता देने के लिए प्रार्थना है। उसमें पद्य-संख्या ४० है। 'विजय-वल्लरी' (१८८१) के ४० दोहों में अफ़गान-युद्ध में विजय-प्राप्ति पर हर्ष प्रकट किया गया है और साथ ही अँगरेज़ी और मुसलमानी राज्यों की तुलना और अँगरेज़ी शासन के अन्तर्गत आर्थिक परिस्थिति और दृष्टिकोण का उल्लेख है। 'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' (१८८२) मिश्र-युद्ध की विजय के उपलक्ष्य में लिखी गई थी। उसमें दोहा, रोला आदि की संख्या ६४ है और कवि ने देश के अतीत गौरव का गान और वर्तमान अधोगति पर क्षोभ प्रकट कर अपनी देशवत्सलता भी प्रकट की है। 'नए ज़माने की मुकरी' (१८८४) में अँगरेज़ी, ग्रैजुएट, चुंगी, अमला, अँगरेजों द्वारा आर्थिक शोषण, अख़बार, ख़िताब, कानून, शराब आदि नवीन विषयों पर चौदह मुकरियाँ हैं। 'जातीय संगीत' (१८८४) इँगलैंड के राष्ट्रीय गान का अनुवाद है। इँगलैंड की नैशनल ऐंथेम सोसायटी (१८८३) के अन्तर्गत वहाँ के राष्ट्रीय गान का भारत की लगभग सभी भाषाओं में गेय अनुवाद हुए थे। अन्त में, 'रिपनाष्टक' की रचना १८८४ में हुई। लार्ड रिपन वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट तोड़ने, मैसूर राज्य को उसके राजवंश को सौंपने, स्थानीय स्वायत्त शासन स्थापित करने, शिक्षा-सुधार प्रस्तुत करने तथा ऐसे ही अन्य शासन-संबंधी उदार कार्यों के कारण भारतवासियों में अत्यधिक सम्मानित और लोकप्रिय हो गए थे। आठ छंदों की रिपनाष्टक कविता उनके विलायत लौटने के समय लिखी गई थी। उसमें रिपन के लिए स्तुत्यात्मक दृष्टिकोण ग्रहण किया गया है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत भक्ति, प्रेम, श्रृंगार और नवीन विषय-संबंधी अनेक स्फुट दोहे, कवित्त, सवैया, पद, ग़ज़ल (उर्दू कविता) आदि उपलब्ध हैं। व्यंग्य और हास्य की दृष्टि से 'उर्दू का स्यापा' (१८७४) और 'बन्दर सभा' (१८७६) उल्लेखनीय हैं। 'बकरी विलाप' (१८७४) धर्म और स्वर्ग के नाम पर हिंसात्मक बकरा-बलि पर बकरी का विलाप है। 'बसंत होली' (१८७४) के १६ दोहों में मन पर पड़े ऋतुराज के प्रभाव और 'प्रात-समीरन' (१८७४) के २१ पयार छन्दों में प्रातःकालीन वायु के दिव्य प्रभाव का वर्णन है। 'श्री जीवन जी महाराज' (१८७२), 'चतुरङ्ग' (१८७२) और 'मूक प्रश्न' (१८७७) जैसी रचनाएँ केवल मनोरंजन की दृष्टि से लिखी गई हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सुन्दरी तिलक' (१८६६ में प्रकाशित) और 'पावस-कवित्त-संग्रह' नामक काव्य-संग्रह-ग्रन्थ भी प्रकाशित किए जिनमें परम्परानुसार श्रृंगार पूर्ण कविताओं की प्रधानता है। दूसरे संग्रह के सम्बन्ध में तो कोई मतभेद नहीं है। 'सुन्दरी तिलक' का बाँकीपुर संस्करण भारतेन्दु कृत कहा गया है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ का सम्पादन भारतेन्दु के कहने से 'द्विज' कवि मन्नालाल ने किया था। राधाकृष्णदास ने इसे 'सम्पादित, संगृहीत व उत्साह देकर बनवाए' ग्रन्थों के अन्तर्गत रक्खा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं संपादन किया या किसी दूसरे से संपादित कराया, यह बात यहाँ स्पष्ट नहीं होती। अन्यत्र राधाकृष्णदास ने लिखा है : "उसी समय (१८७२ से पहले) 'सुन्दरी तिलक' नामक सवैयों का एक छोटा सा संग्रह छपा। तब तक ऐसे ग्रंथों का प्रचार बहुत कम था। इस ग्रंथ का बड़ा प्रचार हुआ, इसके कितने ही संस्करण हुए, बिना इनकी आज्ञा के लोगों ने छापना और बेचना आरम्भ किया, यहाँ तक कि इनका नाम तक टाइटिल पर से छोड़ दिया। परन्तु इसका उन्हें कुछ ध्यान न था। अब एक संस्करण खड्ग विलास प्रेस में हुआ है जिसमें चौदह सौ के सवैया हैं; परन्तु इन

सवैयों का चुनाव भारतेन्दु जी की रुचि के अनुसार हुआ या नहीं यह उनकी आत्मा ही जानती होगी।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्राप्य रचनाओं के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। वे सरल से सरल और गंभीर से गंभीर विषय पर सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत कर सकते थे। उनकी साहित्य सृजन की शक्ति अति विकसित और बलवती थी। वे मातृभाषा के निःस्वार्थ सच्चे सेवक, देशभक्त, परदुःखकातर, उदार, धर्मपरायण आदि एक साथ अनेक रूप ग्रहण कर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे और अपने समय के प्रतिनिधि साहित्यकार थे।

३. आलोचना

नाटक

पिछले अध्याय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व के हिन्दी नाट्य-साहित्य की संक्षिप्त ऐतिहासिक रूप-रेखा दी जा चुकी है और इस ओर संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व हिन्दी में नाटकों का एक प्रकार से अभाव था। इस दृष्टि से हिन्दी नाटकों तथा नाट्य-कला का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। भारतीय आचार्यों ने काव्य के दो भेद माने हैं—दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य। दृश्य काव्य वह है जिसमें कवि के हृदयगत आशय का आनंद देख कर उठाया जा सके। श्रव्य काव्य का आनंद कानों से सुन कर उठाया जाता है। नाटकों की गणना दृश्य काव्य के अन्तर्गत मानी जाती है। हिन्दी साहित्य के मध्य युगीन आचार्यों ने श्रव्य काव्य के कुछ विविध पक्षों पर तो विचार किया, किन्तु दृश्य काव्य की ओर उनका ध्यान आकृष्ट न हो सका। संभवतः नाटकों का प्रचार न रह जाने के कारण वे ऐसा न कर सके हों। अस्तु, जिस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाट्य-साहित्य के निर्माण की ओर ध्यान दिया उस समय हिन्दी की न तो अपनी नाट्य-परंपरा ही थी और न तत्संबंधी लक्षण-ग्रन्थ ही थे। उनके सामने केवल प्राचीन नाट्य-परंपरा के अनुसार लिखे गए संस्कृत के लक्षण-ग्रंथ थे। किन्तु ऐतिहासिक घटना-चक्र ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में एक दूसरी परिस्थिति भी उत्पन्न कर दी थी। हिन्दी-भाषियों का संपर्क अँगरेज़ों के माध्यम द्वारा पाश्चात्य साहित्य के साथ स्थापित हो चुका था। नवीन शिक्षा की आयोजना के अंतर्गत स्थापित स्कूलों और कॉलेजों में वे शेक्सपियर तथा अन्य पाश्चात्य नाटककारों की कृतियों का अध्ययन कर चुके थे अथवा करने लगे थे। शेक्सपियर की रचनाओं ने उनका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया, क्योंकि एलिज़बेथकालीन नाट्य-कला

और प्राचीन भारतीय नाट्य-कला में बहुत-कुछ साम्य था। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ों ने भारत में अपने प्रधान-प्रधान केन्द्रों में अभिनय-शालाएँ भी खोल रखी थीं जहाँ अँगरेज़ी नाटकों के अभिनय के साथ-साथ अँगरेज़ी में अनूदित कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुंतल' का अभिनय भी कभी-कभी हो जाया करता था। ऐसे अवसरों पर उच्च शिक्षित भारतवासी भी आमंत्रित होते थे। स्वयं भारतेन्दु ने अपनी बंगाल-यात्रा मे जिन नाटकों का प्रचार देखा था वे पूर्णतः पाश्चात्य प्रभाव के अंतर्गत आ चुके थे। इन सभी कारणों से शिक्षित हिन्दी भाषियों की नाट्याभिरुचि में परिवर्तन उपस्थित होना अवश्यंभावी था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस समय नाटक-साहित्य के निर्माण की ओर ध्यान दिया उस समय उनके लिए दो मार्ग खुले हुए थे—या तो वे नवोत्थानकालीन भावना से प्रेरित होकर केवल प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का पालन करते, या बँगला के नाटककारों की भाँति पूर्णरूप से पश्चिम का अनुकरण करते। किन्तु वे समन्वयात्मक बुद्धि लेकर अवतरित हुए थे। अन्धानुकरण करना तो वे जानते ही न थे। इसलिए देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उन्होंने प्राचीन भारतीय नाट्य-पद्धति में से आवश्यक और उपयुक्त तत्व ग्रहण कर हिन्दी के नवीन नाट्य-धर्म की स्थापना की। हिन्दी के 'भरत-नाट्य-शास्त्र' 'नाटक' (१८८३) नामक प्रबंध में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कथन है :

'प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तांत अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति-संभूत, किंवा लोकाचारसंघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलंबन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उपरूपक लिपिबद्ध होकर, सहृदय सभासद लोगों की तात्कालिक रुचि अनुसार, उक्त नाटक-नाटिका प्रभृति दृश्यकाव्य किसी राजा की अथवा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त लोगों की नाट्यशाला में अभिनीत होते थे।

'प्राचीन काल के अभिनयादि के संबंध में तात्कालिक कवि लोगों

की और दर्शकमंडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य काव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गए हैं। किंतु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।

'जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अंतःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।

'नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी। नाट्यकला कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्त्तमान काल में नहीं होती।

'अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितांत अरुचिकर है; इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटकों में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोभन', कहीं 'संफेट', 'पंचसंधि' वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रख कर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है। संस्कृत नाटकादि रचना के

निमित्त महामुनि भरतजी जो सब नियम लिख गए हैं, उनमें जो हिंदी नाटक-रचना के नितांत उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं।'[१]

महामुनि भरत के लिखे हुए नियमों में हिंदी नाटक-रचना के लिए नितांत उपयोगी और तत्कालीन सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी नियमों मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'प्रतिकृति' (Scenes), 'जवनिका वा बाह्यपटी' (Drop Scene), 'प्रस्तावना' (भेदों सहित), 'चर्चरिका', 'वृत्ति'' 'उपक्षेप', 'प्ररोचना', 'नेपथ्य', 'उद्देश्यबीज', 'वस्तु', 'उद्देश्य', 'अभिनय', 'पात्र', 'अंगांगी भेद', 'वैषम्यपात दोष', 'अंक', 'अंकावयव', 'विरोधक', 'नायक', 'परिच्छद-विवेक', 'देशकाल प्रवाह', 'विष्कंभक', 'नाटक रचना प्रणाली', 'विदूषक', 'रस', 'रस विरोध', और नाटक तथा अभिनय-संबंधी अन्य स्फुट नियमों का उल्लेख और विवेचन किया है जैसे, अलंकार शास्त्र, नायिकाभेद, पात्रों का स्वर, पात्रों की दृष्टि, आदि। 'नाटक' के प्रारंभ में रूपक के दश भेदों का उल्लेख है। उन्होंने नाम तो अठारहों उपरूपकों के गिनाए हैं, किन्तु परिभाषा, उदाहरण आदि नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी सट्टक और नाट्यरासक के ही दिए हैं शेष के संबंध में उनका कथन है : '···न तो सबों के भाषा में उदाहरण हैं न इन सबों का काम ही विशेष पड़ता है, इससे सविस्तर वर्णन नहीं किया गया।' यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि भारतेन्दु हरिश्चद्र ने उपर्युक्त गृहीत नियमों में नांदी (पूर्वरंग), भरतवाक्य, अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, संधियों आदि का उल्लेख नहीं किया। नांदी के संबंध में तो उन्होंने स्पष्टरूप से कह

---

१. 'नाटक' (१८८३), पृ० ७१७-८००, भारतेन्दु नाटकावली, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२७, प्रथम संस्करण।

दिया है: "......नांदी-रचनादि विषय के नियम हिन्दी में प्रयोजनीय नहीं......।'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने दृश्य-काव्य के तीन भेद माने हैं—काव्यमिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। शुद्ध कौतुक के अन्तर्गत उन्होंने कठपुतली वा खिलौने आदि से सभा इत्यादि का दिखलाना, गूँगे-बहिरे का नाटक, बाजीगरी व घोड़े के तमाशे में संवाद, भूत-प्रेतादि की नकल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियाँ मानी हैं। भ्रष्ट, अर्थात् जिनमें नाटकत्व शेष नहीं रह गया था, के अंतर्गत उन्होंने भाँड़, इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि की गणना की है, और पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल यद्यपि काव्यमिश्र थे तथापि काव्यहीन होने के कारण उन्हें भी भ्रष्ट माना है। काव्यमिश्र नाटकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है—प्राचीन और नवीन। प्राचीन के प्रति उनके दृष्टिकोण का उल्लेख ऊपर हो चुका है। नवीन का उल्लेख करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कथन है:

'आज-कल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और वंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारंबार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है क्योंकि इस समय में नाटक के लेखों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अंक और गर्भांकों की कल्पना यों होनी चाहिए, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है तो उसमें वर्ष-वर्ष के इतिहास के एक-एक अंक और उस अंक के अन्तःपाती विशेष-विशेष समयों के वर्णन का एक-एक गर्भांक। अथवा पाँच मुख्य घटना-विशिष्ट कोई नाटक है तो प्रत्येक घटना संपूर्ण वर्णन का एक-एक अंक और भिन्न-भिन्न स्थानों में विशेष घटनांतःपाती छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन में एक-एक गर्भांक। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक।

जिनमें कथा भाग विशेष और गीति न्यून हों वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीति रूपक। यह दोनों कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते हैं किन्तु उनके मुख्य भेद इतने किए जा सकते हैं यथा—१. संयोगांत—अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो। २ वियोगांत—जिसकी कथा अन्त में नायिका वा नायक के मरण वा और किसी आपद घटना पर समाप्त हो (उदाहरण "रणधीरप्रेममोहिनी") ३. मिश्र—अर्थात् जिसके अन्त में कुछ लोगों का तो प्राणवियोग हो और कुछ सुख पावें।

'इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं यथा—१. शृंगार २. हास्य ३. कौतुक ४. समाज-संस्कार ५. देश-वत्सलता। शृंगार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं, जगत् में प्रसिद्ध हैं। कौतुकविशिष्ट वह है जिसमें लोगों के चित्तविनोदार्थ किसी यंत्र-विशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत घटना दिखाई जायँ। समाज-संस्कारक नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह-संबंधी कुरीति-निवारण, अथवा धर्म संबंधी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथाभाग का इस बुद्धि से संगठन कि, देश की उससे कुछ उन्नति हो इसी प्रकार के अन्तर्गत है। (इसके उदाहरण, सावित्री-चरित्र, दुःखिनी बाला, बाल्य-विवाहविदूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जय नारसिंह की, चक्षुदान इत्यादि।) देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़नेवालों वा देखनेवालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है और ये प्रायः करुण और वीर रस के होते हैं। (उदाहरण—भारतजननी, नीलदेवी, भारत दुर्दशा इत्यादि।) इन पाँच उद्देश्यों को छोड़कर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसों में भी नाटक बनते हैं।'

× × ×

'आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटकरचना में उद्देश्यफल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्यशिष्टगण ग्रंथ का

तादृश आदर नहीं करते, अर्थात् नाटक पढ़ने वा देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्यहरिश्चन्द्र देखने से आर्य जाति की सत्य प्रतिज्ञा, नील-देवी से देशस्नेह इत्यादि शिक्षा निकलती है। इस मर्यादा की रक्षा के हेतु वर्त्तमान समय में स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट नायक को अवलंबन करके नाटक लिखना योग्य है। यदि इसके विरुद्ध नायिका-नायक के चरित्र हों तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए। यथा नहुप नाटक में इंद्राणी पर आसक्त होने से नहुष का नाश दिखाया गया है, अर्थात् चाहे उत्तम नायिका-नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखलाई जाय किंवा दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति कंटकमय दिखलाई जाय। नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।'

अस्तु, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने परिवर्तित समय और रुचि के अनुसार पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का अवलम्बन भी ग्रहण किया। बहुत से अप्रयुक्त प्राचीन नियम छोड़ देने और उस काल में प्राचीन नियमों के अशास्त्रीय प्रचलित अर्थ ग्रहण करने में उन्होंने कोई हानि नहीं समझी, जैसे, उन्होंने गर्भांक को 'दृश्य' के अर्थ में स्वीकार किया। परिणाम यह हुआ कि न केवल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने, वरन् उनके नेतृत्व में अन्य नाटककारों ने भी प्राचीन के साथ-साथ नवीन या पाश्चात्य नाट्य-पद्धति की ओर ध्यान दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समय के अन्य नाटककारों की रचनाओं में से किसी में नांदी-पाठ है, किसी में नहीं है, किसी में प्रस्तावना है, किसी में उसका अभाव है। कोई नाटक रस-प्रधान है तो कोई कुतूहल-प्रधान। साथ ही लगभग सभी प्रमुख नाटककारों ने अंक-संबंधी प्राचीन नियम का उल्लंघन किया। दृश्य-परिवर्तन बहुत शीघ्र होने लगा और पाश्चात्य शैली के अनुसार प्रत्येक अंक के आरंभ में संकेत-चिह्न दिए जाने लगे। विष्कंभक, प्रवेशक, अंकावतार, अंकमुख आदि की योजना भी बहुत कम हो गई थी। पूर्णतः प्राचीन नियमों के अनुसार लिखे गए नाटकों में ही उनका प्रयोग पाया जाता है। प्राचीन नियमों

के विरुद्ध प्रहसनों में भी एक से अधिक—दो-तीन या अधिक—अंक या 'दृश्य' रहने लगे। कथोपकथन की दृष्टि से प्राचीन नियम का पालन प्रायः सभी नाटककारों ने किया है। साथ ही पारसी नाटकों के प्रभावांतर्गत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा अन्य नाटककारों की कृतियों में पद्यात्मक संवाद भी मिलते हैं। सौन्दर्य-पूर्ण कविताओं में रीतिकालीन परंपरा का प्रभाव मिलता है। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार चुंबन, वध, आलिंगन, स्नान, यात्रा, मृत्यु, युद्ध आदि जो वर्जित दृश्य माने गए थे वे भी रंगमंच पर दिखाए जाने लगे। नवीन शैली का अनुसरण करते हुए भी भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों के पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व का अभाव पाया जाता है। इस संबंध में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यद्यपि तत्कालीन नाटकों की रचना-पद्धति में वाह्य दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए, किन्तु उनकी आत्मा अनेक अंशों में भारतीय ही बनी रही—रस, अन्तर्द्वन्द्व के अभाव' आदर्श पात्रों के निर्माण आदि की दृष्टि से, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ऊपर से कोट-पतलून पहिनने वाला भारतीय मन से भारतीय बना रहे। साधारण मनुष्यों में से पात्र चुने जाने पर भी उनके चरित्रों में उत्थान-पतन दिखाई नहीं देता। प्रारंभ से लेकर अंत तक वे प्रायः एक ही से बने रहते हैं। नाटकों के नवीन विषयों और उद्देश्यों की ओर स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संकेत कर दिया है। वृत्तियों की ओर नाटककारों का अधिक ध्यान न गया। भरत-वाक्य-संबंधी नियम भी उपेक्षित होने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा नवविकसित नाट्य-धर्म के अंतर्गत नाटककारों ने स्वच्छन्दता का परिचय दिया। नवीन नाट्य-धर्म पुरातन को लिए हुए भी नवीन था। विशुद्ध नवीन प्रणाली के अनुसार लिखे गए नाटकों में तो प्राचीन नियमों के पालन का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु प्राचीन नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार लिखे गए नाटकों में नवीन प्रणाली और तत्कालीन नाटकीय वातावरण का प्रभाव मिलता है। नवीन प्रभाव से

बिल्कुल मुक्त शायद ही कोई रचना मिले। इसके अतिरिक्त एक ही नाटककार ने प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के नियमों के अनुसार अलग-अलग रचनाएँ प्रस्तुत कीं। कुछ नाटककारों की रचनाओं में प्राचीन और नवीन का मिश्रण है। यह मिश्रण केवल बाह्य नाटकीय विधानों की दृष्टि से ही नहीं, विषय की दृष्टि से भी है। बाह्य विधान यदि प्राचीन है तो विषय नवीन है, और यदि विषय प्राचीन नियमानुसार है तो विधान नवीन है। वास्तव में सच तो यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित नाट्य-धर्म यदि बिल्कुल प्राचीन नहीं है, तो बिल्कुल नवीन भी नहीं है। इसी स्वच्छंद नाट्य-प्रणाली के प्रकाश में उनकी नाट्य-रचनाओं का अध्ययन करना न्यायपूर्ण और उचित होगा।

कथावस्तु—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा निर्मित नाट्य-रचनाओं का पिछले अध्याय में उल्लेख हो चुका है। उनकी नाट्य-रचनाओं में अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं और उनकी कथावस्तुओं की प्रमुख विशेषता है प्रेम। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लगभग सभी नाटकों का प्रधान आधार या तो स्त्री-पुरुष का व्यक्तिगत प्रेम है, या ईश्वर-प्रेम है, या सत्य-प्रेम है, या देश-प्रेम है। वास्तव में कथावस्तुओं के चयन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का निजी जीवन ही प्रतिबिंबित है। 'विद्यासुंदर' की कथावस्तु विद्या और सुंदर के प्रेम पर आधारित है। 'पाखंड विडंबन' की कथावस्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के वैष्णव धर्म के प्रति प्रेम से प्रेरित होकर चुनी जान पड़ती है। 'धनंजय-विजय' की कथा के सार और अंतिम भत-वाक्य से भी उनके नवोत्थानकालीन देश प्रेम की पुष्टि होती है। 'कर्पूर-मंजरी' में भी प्रेम-तत्व विद्यमान है। अनूदित नाटकों में केवल 'मुद्राराक्षस' विशुद्ध राजनीति की दृष्टि से चुना गया नाटक है। मौलिक रचनाओं, जैसे, 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी', 'भारत-जननी' आदि में स्पष्टतः प्रेम का कोई न कोई

रूप ही हमारे सामने आता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों का अध्ययन करने पर उनमें उनकी हृदय वृत्ति का परिचय प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। इसके अतिरिक्त उनकी कथावस्तुएँ पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय हैं और वे प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र तीनों प्रकार की हैं। अनूदित नाटकों की कथाओं के चुनने में तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को स्वतंत्रता नहीं था, किन्तु मौलिक रचनाओं की कथावस्तुएँ उपर्युक्त शीर्षकों के अंतर्गत ही रखी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, 'सत्य हरिश्चन्द्र' की कथा पौराणिक और प्रख्यात है 'चन्द्रावली' की कथा उत्पाद्य है, (भागवत पुराण में केवल चन्द्रावली के नाम का उल्लेख है), 'भारत दुर्दशा' का कथा राष्ट्रीय एवं सामाजिक और उत्पाद्य है, 'नीलदेवी' का कथा ऐतिहासिक किन्तु उत्पाद्य है, और अंत में प्रहसनों की कथाएँ सामाजिक और उत्पाद्य हैं। इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वस्तु-चयन में मौलिकता प्रदर्शित की है। उन्होंने प्रसिद्ध आख्यान लेकर अपनी कल्पना के योग से उन्हें नवीन रूप प्रदान किया है। कथावस्तु को रोचक बनाने के लिए भी नाटककार ने अनेक विशेष परिस्थितियां पात्रों अथवा आदर्शों का निर्माण केवल अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर किया है। इन दृश्यों अथवा पात्रों का कोई ऐतिहासिक या पौराणिक प्रमाण नहीं मिलता। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'नीलदेवी' आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। साथ ही उनका संगठन भी स्वतंत्र रूप से हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक या पौराणिक पात्रों की जीवन-गाथा की विशेष घटनाएं ही नाटकीय रूप में रखी हैं। हरिश्चन्द्र का सत्य-प्रेम, चन्द्रावली का कृष्णानुराग, नीलदेवी का वीरता और प्रतिशोध संबंधित विषयों की आत्माएँ हैं जो वस्तुओं का आधार बन जाती हैं। 'भारत दुर्दशा' में भारत की करुणाजनक परिस्थिति प्रधान आधार है। उनकी इन वस्तुओं में शाखा-प्रशाखाएँ नहीं निकलतीं। वस्तु-संगठन में उनकी विशेषता है सरलता। उनका वस्तु-संगठन दुरूह नहीं है। जिन

मौलिक नाटकों की रचना उन्होंने की उन सब में प्रासंगिक कथा-सूत्रों के निर्माण से या घटनाओं के आधिक्य से आधिकारिक कथावस्तु जटिल नहीं बनने पाई। एक ही कथावस्तु समान गति से आगे बढ़ती चली जाती है। कोई आख्यान लेकर उन्होंने सीधेसादे ढंग से उसे अंकों या दृश्यों या गर्भांकों में विभाजित कर अंत तक पहुँचा दिया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में कथावस्तु का अधिकांश प्रारंभिक परिचय, परिचय के विकास और चरम सीमा के अंतर्गत समाप्त हो जाता है। चरम सीमा के तुरंत बाद ही कथा का उतार एकदम होकर शीघ्रता के साथ उसका अंत हो जाता है और अंतिमफल की प्राप्ति हो जाती है। 'भारतदुर्दशा' में तो चरम सीमा पर ही कथा समाप्त हो जाती है। चरम सीमा के समाप्त होते ही हमारा कुतूहल शान्त हो जाता है। उस समय कार्य-सिद्धि एकाएक हुई सी प्रतीत होती है। हम सोचने लगते हैं कि बड़ी जल्दी कार्य की सिद्धि हो गई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नायक या उनकी नायिका अपने महान् आदर्शवाद का अवलम्बन ग्रहण कर कार्य-सिद्धि प्रस्तुत करते हैं। राजा हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली और नीलदेवी ऐसे ही नायक और नायिका हैं। नाटकों में ऐसी परिस्थितियाँ बनती चली जाती हैं जिनमें नायक-नायिकाओं की आत्मशक्ति पूर्ण विकसित हो जाती है और अंत में वे अपना ध्येय प्राप्त कर लेते हैं। कार्य की प्रगति में कुछ स्थलों को छोड़कर अस्वाभाविक और दैव-संयोग से घटित घटनाओं का उल्लेख नहीं के बराबर है। अंकों के विस्तार अर्थात् भारतीय नाट्य-पद्धति के अनुसार उन्हें बड़ा-छोटा रखने की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वच्छंदता का परिचय दिया है। भारतेन्दु के कथानकों में कार्य-व्यापार की कमी होते हुए भी उनमें रोचकता है, मन रमानेवाली शक्ति है; उनमें शैथिल्य का अभाव है। उनमें घटनाओं या कार्य-व्यापार के स्थान पर किसी एक भावना की प्रधानता है। प्रत्येक वस्तु में नायक या नायिका की विरोधी शक्तियों का उल्लेख तो अवश्य रहता है, किन्तु वाह्य-द्वन्द्व का अधिक स्थान नहीं

मिलता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय की नाट्य-परिस्थितियों के अनुसार उनकी कृतियों में चमत्कार-पूर्ण और तड़कभड़क वाले दृश्यों का अभाव नहीं है। प्रत्येक नाटक में पारसी थिएटरों, रासलीला आदि का प्रभाव है। साथ ही उनके लगभग सभी नाटकों में विनोद उत्पन्न करनेवाला अंश अवश्य रहता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कथावस्तुओं में प्रायः सर्वप्रथम एक सामान्य वातावरण का परिचय मिलता है जिसमें नाटक का परिचय छिपा रहता है। यह परिचय गद्य के माध्यम द्वारा अथवा पद्यात्मक रचना द्वारा दिया जाता है। इस प्रारंभिक अंश में ही नाटक का आभास मिल जाता है। वह परिचय ही धीरे-धीरे नाटकीय कथावस्तु में विकसित होता है। पात्रों का कुछ-कुछ परिचय भी इसी अंश में रहता है। नाटककार ने प्रारंभिक परिचयात्मक अंश को पाठकों के सामने रखते हुए कलात्मकता प्रदर्शित की है। उसे रुचिकर बनाने के साथ-साथ उसने नाटकीय तत्वों का भी पालन किया है। लेखक हमें सरलतापूर्वक मुख्य परिस्थिति से परिचित करा देता है और हमारी उत्सुकता बढ़ाता है। स्वगतों और पत्रों के द्वारा भी वस्तु-विन्यास प्रस्तुत किया गया है। कथोपकथन साधारणतः दो या तीन व्यक्तियों में रहता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रत्येक कथावस्तु को रोचक बनाने और उस रोचकता को सँभालने की चेष्टा की है।

नाटककार की हृदय-वृत्ति की प्रधानता होने के कारण रचनाओं में रस का अभाव नहीं है। उनमें लेखक की सजीवता और प्रतिभा, उसका उत्साह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। कथावस्तु के संगठन में नाट्य-शास्त्र के अंगों का पालन हुआ हो या न हो, किन्तु उनमें नीरसता कहीं भी नहीं है। उनमें भारतेन्दु के जीवन की स्वाभाविक तरंगें हैं, स्वाभाविक उल्लास है। उनका निर्माण नाटककार ने अपने जीवन के चारों ओर से ली गई सामग्री से कर यथार्थ की स्थापना की और अपने समकालीन जीवन के गहन अध्ययन का परिचय दिया। अपने नाटकों की कथावस्तुओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपना और अपने

चारों ओर के राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक जीवन को अत्यन्त कुशलता के साथ पिरो दिया है। तत्कालीन समाज के सभी पक्षों और वर्गों पर उन्होंने प्रकाश डाला है, वह भी सुंदर, मनोरंजक और क्रमबद्ध रूप में। यही कारण है कि उनके जीवन-काल में ही उनके कथानक लोकप्रिय और अनुकरणीय सिद्ध हो गए थे। उनमें हम केवल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ही नहीं, वरन् उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के समस्त शिक्षित समुदाय की मानसिक वृत्ति का परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रथम नाट्य-कृति 'विद्यासुंदर' (अनूदित) है। इस नाटक की कथावस्तु में 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पचीसी' की कहानियों का सा आनंद आता है। 'त्रिभुवन मोहिनी' विद्या का रूप-वर्णन सुन कर सुंदर का प्रेम के वशीभूत हो वर्द्धमान नगर आना, चौकीदार से झपट और अंत में सुंदर का उससे आशीर्वाद पाना, हीरा मालिन और सुंदर की भेंट, सुंदर का उसे मौसी बनाना, सुंदर द्वारा गूँथी हुई माला का विद्या के पास पहुँचना, विद्या का माला बनाने वाले पर बिना देखे मोहित हो जाना, मालिन द्वारा उस 'चाँद के टुकड़े' से मिलने का उपक्रम किया जाना, फिर विरह की पीर, सुरंग खोद कर गुप्त मार्ग का बनना, विद्या और सुंदर का गुप्त रीति से विवाह और मिलन, सुंदर का संकट में पड़ना आदि कथांशों में अस्वाभाविकता और अद्भुतता होने पर भी कथा मनोरंजक है। सुंदर का संकट में पड़ना ही कथा का चरमोत्कर्ष है। संपूर्ण कथानक में लोकप्रिय प्रेम-कथाओं का वातावरण है। प्रेम में सात्विकता का अभाव और शारीरिकता का प्राधान्य है। नाटकीय कथावस्तु की रचना नवीन प्रणाली के अनुसार हुई है। उसमें नांदी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य आदि भी नहीं है। और यद्यपि उसमें अर्थ-प्रकृतियाँ, कार्यावस्थाएँ और संधियाँ खोजी जा सकती हैं, किन्तु यह प्रयास व्यर्थ है। 'पाखंड-विडंबन' का कथानक प्रतीकात्मक है।

'धनंजय-विजय' का कथानक अत्यन्त सरल है। उसमें पद्यों का अधिक प्रयोग हुआ है। इस रचना की कथावस्तु पुराण-प्रसिद्ध है और उसका वर्णन एक ही अंक में हुआ है। कथा का संबंध एक ही दिन से है और उसमें युद्ध का वर्णन है जो स्त्री के कारण नहीं हुआ। रचना का आरंभ पूर्वरंग, प्ररोचना और प्रस्तावना से होता है तथा नियमानुसार अर्थ-प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और संधियों का सुंदर प्रयोग पाया जाता है। 'कर्पूर-मंजरी' के कथानक से प्राचीनकालीन नाट्य-शास्त्र और धार्मिक परिस्थितियों (तांत्रिक मत) पर प्रकाश पड़ता है। कथा का सूत्रपात चन्द्रपाल के राजभवन से होता है और भौगोलिक स्थानों तथा वैवाहिक प्रथा की दृष्टि से उसका संबंध दक्षिण भारत से है। भारतीय ऋतुओं, महीनों, ज्योतिष-संबंधी बातों आदि का भी उसमें उल्लेख है। 'कर्पूर-मंजरी' के कथा-संगठन में भी नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का पालन किया गया है। सट्टक की लगभग सभी विशेषताएँ उसमें हैं। सट्टक में प्रवेशक और विष्कंभक नहीं होते। शेष बातें नाटिका के समान हैं (अंक, वृत्ति, हास-परिहास, शृंगारिकता आदि की दृष्टि से)। रचना का नामकरण भी नायिका के आधार पर हुआ है। उसमें अद्भुत रस का समावेश है। 'मुद्राराक्षस' की कथा का मुख्य उद्देश्य चाणक्य द्वारा राक्षस से चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार कराना है। उसमें दो कूटनीतिज्ञों का संघर्ष है। उसका घटनाक्रम अत्यन्त कौशल के साथ संगठित किया गया है। आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं के पारस्परिक संबंध-निर्वाह से नाटक में सौंदर्य की वृद्धि हुई है। प्रारंभ में चाणक्य का राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाने की दृढ़ प्रतिज्ञा करना, राक्षस की मुहर का मिलना तथा शकटदास से पत्र लिखवाना और उसे मलयकेतु को दिखाना, राक्षस के प्रयत्नों का विफल होना, चाणक्य और चन्द्रगुप्त की मिथ्या कलह और राक्षस का मंत्रित्व स्वीकार करना, इन कथांशों में क्रमशः पाँचों अर्थप्रकृतियों का सुंदर निर्वाह हुआ है। इसी प्रकार चाणक्य द्वारा कथा का सूत्रपात होना, राक्षस के प्रयत्नों

का निष्फल होना तथा चाणक्य और चन्द्रगुप्त में कृत्रिम विरोध होना, मलयकेतु और राक्षस में विरोध, राक्षस का वधस्थान को जाना, और अंत में राक्षस द्वारा मंत्रित्व स्वीकार कर लेना, इन अंशों में क्रमशः पाँचों कार्यावस्थाओं का, और चाणक्य द्वारा प्रतिज्ञा, शकटदास द्वारा पत्र लिखवाया जाना और चंदनदास का पकड़ा जाना, राक्षस की विफलता तथा चाणक्य और चन्द्रगुप्त का कृत्रिम विरोध, मलयकेतु और राक्षस का सचमुच का विरोध और राक्षस की मानसिक स्थिति, और अंत में राक्षस का चंदनदास को छुड़ाने जाना, इन अंशों में क्रमशः पाँचों संधियों के निर्वाह द्वारा कथावस्तु के विभिन्न अंगों का सुंदर संगठन उपस्थित हुआ है। कथा की सभी घटनाएँ निश्चित रूप से अंतिम फल की ओर उन्मुख हैं और वे पाठकों की उत्सुकता बनाए रखने में सहायक सिद्ध होती हैं। संपूर्ण कथानक में शिथिलता तथा असंगत बातों का नाम भी नहीं है। कथा में पूर्वरंग, प्ररोचना तथा प्रस्तावना, भरत-वाक्य तथा नाटक के अन्य आवश्यक तत्वों का प्रयोग हुआ है। संपूर्ण कथा का समय एक वर्ष है।

'दुर्लभ बन्धु' की कथावस्तु के संगठन में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को कोई विशेष स्वतंत्रता प्राप्त न हो सकती थी। उसमें कथानक ज्यों का त्यों है। किन्तु अनुवाद करते समय उसमें कुछ असामंजस्य और गड़बड़ी उपस्थित हो गई है, जैसे, एक स्थान पर कहा गया है 'उनका एक जहाज़ त्रिपुल को गया है, दूसरा हिन्दुस्तान को'। कथा के भारतीय आवरण में होने पर हिन्दुस्तान को जहाज़ जाना कुछ अजीब सा मालूम होता है। ऐसे ही और भी कई अंश उसमें मिलते हैं। साथ ही यहूदियों के स्थान पर जैनों को रखना भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता। भारत में आर्यों और जैनों में उतना संघर्ष नहीं रहा जितना यूरोप में ईसाइयों और यहूदियों में। वास्तव में पूर्ण रूप से अविकल या पूर्णतः स्वतंत्र अनुवाद न होने के कारण 'दुर्लभ बन्धु' के कथानक में अनेक अस्वाभाविक और असंगत स्थलों का समावेश हो गया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मौलिक रचनाओं में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन की कथावस्तु का मूल तत्कालीन सामाजिक जीवन में है। लेखक ने समाज के मिथ्याचार पर तीक्ष्ण व्यंग्य किए हैं। राजा शिवप्रसाद को भी उसने नहीं छोड़ा। वास्तव में समाज के विभिन्न क्षेत्रों से सामग्री लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने इस प्रहसन की कथावस्तु का सीधे और सरल ढंग से संगठन किया है। आरंभ से अंत तक प्रहसन में एक ही लक्ष्य का निर्वाह हुआ है। उसमें घटनाओं का अधिक विस्तार नहीं है। कथा का प्रारंभ नांदी और प्रस्ताव से हुआ है। अंत में भरत-वाक्य से कथा का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है—

'निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईश्वर पद में भक्ति करैं छल बिनु सब कोई॥
खल के विष-बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज-कर मेघ समय पै जल बरसावैं॥
कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख सत कविता सब कोई कहै।
यह कविबानी बुध-बदन में रवि ससि लौं प्रगटित रहै॥'

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक हिन्दी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। नाट्य-कला की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट रचना समझी जाती है। उसकी कथा में पुण्य और पवित्र भावनाओं का विशाल उद्गम है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' की कथा का विभाजन चार अङ्कों में किया है। प्रारंभ में ही उन्होंने सूत्रधार के मुख से तत्कालीन रईसों का सजीव चित्र चित्रित किया है। साथ ही प्रथम अंक में राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने के लिए इन्द्र, विश्वामित्र और नारद के कथोपकथन की कल्पना से उन्होंने कथा को एक विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है। कथावस्तु में कुछ परिवर्तन उपस्थित कर भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। इनमें सब से अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन स्वप्न-संबंधी है। चण्डकौशिक में राजा हरिश्चन्द्र आखेट के

लिए जाते हैं और महाविद्याओं का चीत्कार सुन कर विश्वामित्र से उनकी रक्षा करते हैं। विश्वामित्र और राजा में वार्तालाप होता है और राजा विश्वामित्र को पृथ्वी दान में दे डालता है। प्रस्तुत रचना में एक 'अज्ञात नामगोत्र ब्राह्मण को' पृथ्वी स्वप्न में दान दी जाती है। इस स्वप्न से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राजा के सत्य-प्रेम और दान वीरत्व का महत्व और भी बढ़ा दिया है। चण्डकौशिक की कथा के इस अंश में जो दोष है उसका परिहार इस स्वप्न-संबंधी वृत्त मे हो जाता है। इस कल्पना के बाद भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राजा की आंतरिक प्रेरणा, इन्द्रादि को एकत्र आपस में मिलाने तथा 'उभय पक्ष के मनोमलिन्य को मिटा कर' नाटक को उपदेशप्रद बनाने आदि का दृष्टिकोण ग्रहण कर नाटकीय कथा-वस्तु का जो विकास उपस्थित किया है वह स्तुत्य है। चण्डकौशिक के आधार पर अनूदित कुछ वर्णनों के अतिरिक्त गंगावर्णन, काशीवर्णन, श्मशान और चांडालों आदि का वर्णन उनका अपना है। इन वर्णनों में कवि की कुशलता का परिचय प्राप्त होता है। कथा की प्रत्येक घटना के वर्णन में स्वाभाविकता और कलात्मकता का ध्यान रखा गया है। किन्तु उन वर्णनों का संबंध राजा हरिश्चन्द्र के समय के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। स्वयं अपने में कलात्मक होते हुए भी ये वर्णन कथा के नैसर्गिक प्रवाह में बाधा-स्वरूप-सिद्ध होते हैं। साथ ही द्वितीय अंक के बाद 'तृतीय अंक में अङ्कावतार', रानी शैव्या का विस्तृत विलाप, कथावस्तु में अत्यधिक कारुण्य, राजा हरिश्चन्द्र द्वारा गङ्गा का वर्णन (गङ्गा हरिश्चन्द्र के बाद भगीरथ द्वारा लाई गई थीं) आदि बातें चिन्त्य हैं। और यद्यपि नाटक का आरंभ पूर्वरंग, प्ररोचना तथा प्रस्तावना, और अन्त भरत-वाक्य से होता है, किन्तु वस्तु-संगठन की दृष्टि से अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और संधियों के प्राचीन नियमों का विधिवत् पालन नहीं हुआ। संभवतः इनकी आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' नामक निबंध में इन तत्वों का उल्लेख न कर

उनके संबंध में अपना निर्णय प्रकट कर दिया है। यह ठीक है कि 'नाटक' की रचना 'सत्य हरिश्चन्द्र' के बाद हुई थी किन्तु 'नाटक' में उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के व्यावाहारिक अनुभवों को ही स्थान दिया था। हाँ, 'सत्य हरिश्चन्द्र' का कथानक अपनी सरल गति से बढ़ता हुआ चरम सीमा पर पहुँचता हुआ अवश्य दिखाई देता है। उसके तुरंत बाद ही नाटक का अंत हो जाना उसकी कला है। नाटकीय कथावस्तु के अंतिम फल का भोक्ता राजा ही नायक है, क्योंकि वह अपने धर्म और सत्य की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। संपूर्ण कथा अनेक विघ्न-बाधाओं को चीरती हुई अपने अंतिम उद्देश्य तक पहुँच जाती है। और कुछ दोषों के रहते हुए भी वस्तु के निर्वाचन और कृत्य की कृत्यकार्यता की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

'चन्द्रावली' की कथावस्तु भी अत्यन्त सरल गति से विकसित होती हुई अपने अंतिम ध्येय तक पहुँच जाती है। उसमें कथा-वैचित्र्य का अभाव है। समान गति से चलने के कारण उसका प्रभाव मन्द अवश्य पड़ जाता है, किन्तु उसकी पूर्ति-कथा की रसात्मकता से हो जाती है। यह रचना प्रेम-रस से परिपूर्ण है। कुछ आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दी साहित्य में महात्मा सूरदास के अतिरिक्त अन्य कोई कवि प्रेम का ऐसा उत्तम वर्णन करने में समर्थ नहीं हुआ। चन्द्रावली का पूर्वानुराग ही क्रमशः प्रेम में परिणित हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चंद्रावली के प्रेम, विरह और मिलन द्वारा उस प्रेम का वर्णन किया है जो इस संसार में प्रचलित नहीं है। संपूर्ण कथावस्तु का संगठन 'प्रेम, विरह तथा मिलन तीन ही शब्दों में हुआ है और इसी क्रम से इतने सुशृंखलित रूप में गठित हुआ है कि कहीं उखड़ा-सा नहीं है।' उसमें 'निस्पृह दैवी प्रेम का सजीव चित्रण सच्चे प्रेमी भक्त द्वारा हुआ है और एक एक पद प्रेमियों की निधि है।' चन्द्रावली के प्रेम में हृदय की समस्त मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

के साथ अनुराग है जो संसार को स्पर्श करते हुए भी उससे परे है। प्रकृति के साहचर्य से उस अनुराग में और भी तीव्रता उत्पन्न की गई है। प्रकृति को जीवन का पूरक मान कर हृदय की सात्विकता के उन्मेष के लिए प्रकृति का साहचर्य उपयुक्त समझा गया है। यही कारण है कि योगिनी-रूप श्रीकृष्ण और चन्द्रावली के मिलन से यमुना की शोभा का वर्णन कर एक पवित्र वातावरण उत्पन्न किया गया है। इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हृदयगत अनुराग को प्रकृति के रेखाचित्र में अंकित कर घटना को अलौकिक रूप दिया है और उसमें समस्त रागात्मक अनुभवों का स्पष्टीकरण किया है जो पुष्टिमार्ग की साधना में पूर्ण रूप से घटित होते हैं; क्योंकि श्रीकृष्ण का अनुग्रह-पूर्वक मिलन परिणाम है और उससे चन्द्रावली युक्त होती है। यह रागात्मक अनुभव दाम्पत्य प्रेम की दिशा में विकसित हुआ है जिसमें आत्म-समर्पण की संपूर्ण भावना है। लौकिकता के क्षेत्र से उसका वहीं तक संबंध है जहाँ तक लोक-लाज और वंश-मर्यादा का भय है। इन बाधाओं का प्रतिकार करने पर प्रेम के प्रकट करने में कोई बाधा नहीं रह जाती। इसी भावना के अंतर्गत मीराँ का आत्मोत्सर्ग है। लोक-लाज की उपेक्षा ही आत्मिक प्रेम की सबसे बड़ी स्वीकृति है। उसी समय प्रेम भौतिक पद से ऊपर उठ जाता है। आत्म-समर्पण और आत्मोत्सर्ग की दृष्टि से चन्द्रावली अपने व्यक्तित्व तक को भुला बैठती है। यहाँ तक कि वह अपना परिचय भी प्रियतम के रूप में देने लगती है। यह अद्वैत भावना प्रेम की पराकाष्ठा है। इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रकृति का आश्रय लेकर रागात्मकता की परिणति अलौकिक अनुभूति के रूप में की है। साथ ही काव्य-तत्व ने उनके दृष्टिकोण को और भी सौन्दर्यपूर्ण बना दिया है। कोमल और स्निग्ध भावनाओं को संगीत का आश्रय मिला है और भावनाएँ और भी अधिक तीव्र हो उठी हैं। 'चन्द्रावली' की कथा में अनुराग, प्रकृति और काव्य के सम्मिश्रण से भावनाओं के चित्र उभर आए हैं और यही उसका सौंदर्य है। उसमें अनुकृति (नाटिका) और रस (नाटक) का

अपूर्व सम्मिलन है। वह एक अनुपम काव्यात्मक प्रेमाख्यान है। किन्तु काव्य-तत्व और रसात्मकता के कारण कथानक के प्रवाह और कार्य-व्यापार को आघात पहुँचता है, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। प्राचीन नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से वस्तु-विन्यास के लगभग सभी आवश्यक अंग उसमें मिल जाते हैं। कथावस्तु का विभाजन चार अंकों में है और कथा उत्पाद्य है। सम्पूर्ण कथा में स्त्रियों की ही प्रधानता है। कृष्ण जी केवल अंत में आते हैं, वह भी पहले जोगिन के वेष में। नायक और नायिका का मिलन ज्येष्ठा की आज्ञा से ही होता है। उसमें पूर्वरंग, प्ररोचना तथा प्रस्तावना और अन्त में भरत-वाक्य के अतिरिक्त अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और संधियों का सुन्दर निर्वाह मिलता है। नाटिका में विष्कंभक का प्रयोग तो उचित हुआ है, किन्तु 'दूसरे अंक के अंतर्गत अंकावतार' दूषित है। सम्भवतः उसका प्रयोग अंतर्संधि के रूप में हुआ है। सम्पूर्ण नाटिका में कैशिकी वृत्ति है और उसके चारों भेद क्रमशः चारों अंकों में आरोपित होते हैं। 'चन्द्रावली' के वस्तु-विन्यास में एक सौन्दर्य यह भी है कि उसमें भारतीय नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के घटित होने के अतिरिक्त पाश्चात्य पद्धति के अनुसार समय, स्थान और कार्य संबंधी संकलनत्रयी का भी अच्छा निर्वाह हुआ है। उसके अभिनय में डेढ़ या अधिक से अधिक दो घंटे लगेंगे। साथ ही सारी कथावस्तु का संबंध एक ही स्थान से और उसमें एक ही कार्य की प्रधानता है।

'विषस्य विषमौषधम्' में बड़ौदा नरेश श्री महाराज मल्हारराव गायकवाड़ के कुत्सित व्यभिचार पर उन्हें राज्य च्युत किए जाने के विषय पर आधारित कथा है। इसमें वस्तु-संगठन का कोई विशेष चमत्कार नहीं खोजा जा सकता क्योंकि एक ही व्यक्ति द्वारा सब बातें कहलाई गई हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस भाण में भंडाचार्य द्वारा स्त्री के प्रभाव का वर्णन करते हुए इतिहास पर भी दृष्टि डाली है और उन कारणों का उल्लेख किया है जिनके अंतर्गत भारत में अँगरेजी राज्य की स्थापना

हुई। वास्तव में इतिहास और राजनीति-संबंधी विचारों से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देशवत्सलता और देशहितैषिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।[1] वे भारत में अँगरेज़ी राज्य की स्थापना को ऐतिहासिक घटना-चक्र द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के अनुकूल समझते थे और उस समय की विचार-धारा के अनुसार, अँगरेज़ी राज्य में दोष देखते हुए और उन दोषों की आलोचना करते हुए भी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देश-वत्सलता में राज्य भक्ति का भी यथेष्ट पुट विद्यमान था। उनके स्त्री-प्रभाव-संबंधी विचार देशी राज्यों की विलासिता का ध्यान में रखते हुए प्रकट किए गए हैं। उनका भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के चरित्र या जीवन से संबंध जोड़ने की चेष्टा असंगत है। भाण की रचना नाट्य-शास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार हुई है। एक दुश्चरित्र व्यक्ति के चरित्र को दिखला कर सामाजिकों को हँसाने और उन्हें वैसे आचरण से दूर रखने के लिए 'विषस्य विषमौषधम्' की रचना हुई है। उसमें एक अंक है और आकाश की ओर देख कर बातें भी कही गई हैं।

'भारत-जननी' और 'भारतदुर्दशा' से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देश-प्रेम का परिचय प्राप्त होता है। 'भारत-जननी' में गीतों की प्रधानता है। उसमें कोई विशेष कथा नहीं मिलती। केवल भारत माता को केन्द्र मान कर तत्कालीन भारतीय जीवन से संबंधित विभिन्न तथ्यों का उल्लेख कर दिया गया है। वैसे भी ऑपेरा की कथावस्तु का संगठन सामान्य रूपक की कथावस्तु की भांति नहीं हो सकता।

'भारतदुर्दशा' की कथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कल्पना की उपज है और उसका आधार कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है। हाँ, यदि उसका कोई आधार माना जा सकता है तो वह उनका समकालीन भारतीय सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन है और उससे सच्चे अर्थों में यथार्थवाद की पुष्टि होती है। यथार्थवाद

---

[1] दे०, लेखक कृत 'भारतेन्दु की विचारधारा'

अपने वास्तविक रूप में इतिहास के ही निकट की वस्तु है। 'भारत दुर्दशा' की कथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की देश-वत्सलता और देश-हितैषिता का आदर्श उदाहरण है। नवोत्थान काल में उत्पन्न होने के कारण वे देश के अतीत गौरव की भावना से तो अनुप्राणित थे ही, साथ ही वे अपने चारों ओर उसी महान् देश की अधोगति देख रहे थे। उसकी अधोगति में यदि विदेशी आक्रमणकारियों और शासकों का हाथ था तो स्वयं भारतवासियों का भी कोई कम हाथ नहीं था। एक ओर तो विद्रोह के बाद सरकार दमन-नीति का अनुसरण कर रही थी और दूसरी ओर भारतवासियों में अनेक चारित्रिक दोष उत्पन्न हो गए थे। ऐसी परिस्थिति में या तो पूर्णतः सरकारी नीति का समर्थन किया जाता, जैसी राजा शिवप्रसाद की नीति थी, और जिस मार्ग का अवलंबन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रहण न कर सकते थे, अथवा सरकार की कुनीतियों की आलोचना करते हुए जन-हित पर भी ध्यान रखा जाता, जिसके फलस्वरूप सरकार का कोप-भाजन बनना पड़ता। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अँगरेज़ी राज्य की अच्छाइयों को ध्यान में रखते हुए दूसरे मार्ग का अनुसरण किया। 'भारतदुर्दशा' में उन्होंने भारतवासियों की दुर्दशा पर अपना क्षोभ प्रकट किया है और तत्कालीन शिक्षित समुदाय की असहायावस्था प्रदर्शित की है। अँगरेज़ी राज्य में अँगरेज़ जाति के गुणों का अनुकरण कर उन्नति की ओर उन्मुख होने के स्थान पर भारतवासियों को महांधकार में डूबते हुए देश-प्रेमी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को घोर निराशा होती है। उसी नैराश्यजनित अवस्था में भारत-भाग्य अपनी छाती में कटार का आघात कर लेता है और इस प्रकार कथा दुःखांत हो जाती है। कथा का दुखांत होना एक तो पाश्चात्य प्रभाव प्रदर्शित करता है, दूसरे उसका अंत यथार्थवाद पर आधारित है। तत्कालीन भारतीय जीवन के जर्जरित रूप का चित्रण करना ही 'भारतदुर्दशा' के लेखक का उद्देश्य था—रचना का शीर्षक भी यही प्रकट करता है। इस कार्य में उसे सर्वथा सफलता प्राप्त हुई है। अपने भावों का

मानवीकरण कर उसने कथा का संगठन किया है। लेखक की सफलता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि आज भी उसकी रचना पढ़ने के बाद भारत की एकता में विश्वास और देशोन्नति संबंधी प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त होता है। वास्तव में नाटककार ने जो प्रसंग उठाया है उसका सफलतापूर्वक और प्रभावोत्पादक ढंग से निर्वाह किया है। कथा में कहीं शिथिलता नहीं है। समान गति से चलती हुई उसका चरमोत्कर्ष पर अन्त हो जाता है। आदि से अन्त तक उसमें भारत की अधोगति का ही उल्लेख है। रचना-पद्धति की दृष्टि से उसमें नाट्यरासक के लक्षण नहीं मिलते। हाँ, विविध गान से सुसंपन्न होने के कारण उसका लास्य रूपक नाम अधिक सार्थक माना जा सकता है, क्योंकि नाटक में लास्य का अधिकांश संबंध गायन से ही है। रचना का प्रारंभ यद्यपि मंगलाचरण से होता है, किन्तु उस पर पाश्चात्य प्रभाव ही विशेष रूप से माना जायगा—विषय-निर्वाचन वस्तु-संगठन, अंत, उद्देश्य आदि सभी दृष्टियों से।

'नीलदेवी' की कथावस्तु ऐतिहासिक है। प्रत्येक देश के नवोत्थान या पुनर्जागरण द्वारा उत्पन्न भावनाओं के फलस्वरूप स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुआ और उनके लिए उन्नति का मार्ग खुल गया। इसी भावना का प्रतिनिधित्व 'नीलदेवी' द्वारा हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने प्रारंभिक वक्तव्य में 'नीलदेवी' की रचना का उद्देश्य बताते हुए यही लालसा प्रकट की है कि गृह-देवियाँ हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, क्योंकि वे हमेशा से इस हीनावस्था में नहीं थीं। साथ ही वे पश्चिम का अंधानुकरण कराना भी नहीं चाहते। 'नीलदेवी' की कथा में भारतीय वीरांगनाओं का उज्ज्वल चरित्र और उसके माध्यम द्वारा देश-प्रेम और कुल परंपरा मात्र से अलग स्त्रियों की स्वाधीनता का बीजारोपण मिलता है। सूर्यदेव की मृत्यु हो जाने पर नीलदेवी चुपचाप वैधव्य की चादर ओढ़ कर नहीं बैठ जाती और न सती हो जाती है। इसके विपरीत वह

साहस बटोर कर अपनी वीरता, बुद्धि, कार्य-कुशलता आदि का परिचय देकर नारी जाति के यश में चार चाँद लगा देती है। वह हिंसात्मक ढंग से अपने पति के हत्यारे से प्रतिशोध लेती है, इसमें नैतिकता या अनैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। जो तथ्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हमारे सामने रखना चाहते हैं वह यह है कि नीलदेवी हाथ पर हाथ रख कर नहीं बैठ जाती। उसका पातिव्रत धर्म उसे क्रियाशील बनाता है। वह उसमें नेतृत्व की शक्ति उत्पन्न करता है। प्यार और कोमलता की गोद में पली स्त्रियों को अवसर पड़ने पर गठरी बनी बैठी रहने के स्थान पर किस प्रकार अपना रूप परिवर्तित कर लेना चाहिए, इस बात की शिक्षा हमें नीलदेवी की कथावस्तु से मिलती है। सारी कथा अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से रखी गई है। अंकों की सीढ़ियों पर होती हुई कथा ऊपर चढ़ती चली जाती है। लेखक ने मुख्य-मुख्य घटनाओं के वर्णन के साथ अनेक छोटी-छोटी बातों का वर्णन भी किया है। पागल का प्रलाप सार्थक और सुन्दर हुआ है। संपूर्ण कथा में गीतों का विशेष स्थान है। पहले सूर्यदेव की और अंत में अमीर की मृत्यु होती है। रंगमंच पर वध का दिखाया जाना पाश्चात्य प्रभाव है। वैसे भी वस्तु-संगठन, अत, उद्देश्य, आदि की दृष्टि से 'नीलदेवी' नाटकों के नवीन भेद के अनुसार लिखी गई रचना है। वह गीति-रूपक है जो पश्चिम की देन है। इसलिए उसमें बीज, बिन्दु आदि देखना व्यर्थ है।

'अंधेर नगरी' प्रहसन की कथावस्तु साधारण है। कहीं-कहीं पर उसमें ऐसे अंश आ गए हैं जो देश की तत्कालीन अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। प्रहसन का कोई महान् उद्देश्य प्रतीत नहीं होता। साथ ही उसमें अतिनाटकीयता है और हास्य भी उच्च कोटि का नहीं है। रचना-पद्धति की दृष्टि से 'अंधेर नगरी' तथा भारतेन्दु का दूसरा प्रहसन (वैदिकी हिंसा...) में प्राचीन नाट्य-शास्त्र के लक्षण भले ही मिल जायँ, किन्तु प्राचीन प्रहसनों का मुख्य उद्देश्य हास्य-विनोद ही रहता था, न कि समाज की निंदनीय बातों पर व्यंग्य करना। भारतेन्दु के प्रहसन

पाश्चात्य कॉमेडी के अनुकरण पर लिखे गए हैं जिनमें उन्होंने तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक दौर्बल्य पर तीव्र व्यंग्य कसे हैं।

'प्रेमजोगिनी' और 'सतीप्रताप' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अपूर्ण रचनाएँ हैं। इसलिए उनके वस्तु-विन्यास के संबंध में कोई विशेष बात नहीं कही जा सकती।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के वस्तु-संगठन में दोष अवश्य मिलेंगे, किन्तु ये दोष उसी समय दोष प्रतीत होते हैं जब हम उनके नाटकों को भारतीय या पाश्चात्य किसी एक पद्धति विशेष की कसौटी पर कस कर देखना चाहते हैं। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है उन्होंने किसी एक पद्धति का अनुसरण न कर स्वच्छंदता का परिचय दिया। वैसे भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का समय हिन्दी नाट्य-साहित्य का शैशव-काल था।

चरित्र-चित्रण—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अनूदित नाटकों में तो पात्र-चयन की स्वतंत्रता नहीं थी, किन्तु संयोगवश उनके अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार नाटकों में मुख्य-मुख्य पात्र प्रायः उच्च वर्गों से संबंध रखते वे राजवंश के हैं अथवा समाज के शिक्षित और प्रतिष्ठित वर्ग के हैं। हैं। उदाहरण के लिए, 'विद्यासुंदर' में विद्या और सुंदर, 'धनंजय विजय' में अर्जुन आदि, 'कर्पूर-मंजरी' में कुमार चंद्रपाल आदि, 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य, चन्द्रगुप्त, राक्षस, और मलयकेतु 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में राजा, पुरोहित आदि, 'सत्य हरिश्चन्द्र' में राजा हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र आदि, 'चन्द्रावली' में चन्द्रावली, कृष्ण तो स्वयं परब्रह्म स्वरूप हैं, 'भारत दुर्दशा' में कवि, एडीटर आदि, 'नीलदेवी' में अमीर, सूर्यदेव, नीलदेवी आदि, जितने प्रधान पात्र हैं वे राजा-रानियाँ हैं, राजकुमार-राजकुमारियाँ हैं, ऋषि या देवता हैं, राजसभाओं के सभासद हैं, या समाज के शिक्षित समुदाय से सबंधित हैं। 'अंधेर नगरी' में भी महंत और राजा समाज के प्रतिष्ठित वर्ग के ही है। इन प्रधान-

प्रधान पात्रों के अतिरिक्त देश-काल के अनुसार उनके मौलिक नाटकों में साधारण पात्रों का भी समावेश है। इस दृष्टि से भी वे भारत की प्राचीन परंपरा को छोड़ कर आगे बढ़े हैं। किन्तु पात्रों की अधिकता होते हुए भी कथावस्तु किसी एक प्रधान पात्र पर आधारित रहती है। ऐसे पात्र को हम नायक कहते हैं। भारतेन्द हरिश्चन्द्र के नाटकों में नायिकाओं का भी कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वे कथानक के विकास में काफ़ी सक्रिय भाग लेती हैं। उनके नायक-नायिकाओं में असाधारणता रहती है। राजा हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, नीलदेवी आदि साधारण स्तर से बहुत ऊपर उठे हुए पात्र-पात्रियाँ हैं। वे प्रारंभ से ही उच्च स्तर पर स्थित दिखाए जाते हैं; वे नीचे से ऊपर नहीं उठते। प्रारंभ में हमें उनके जिस रूप का परिचय प्राप्त होता है वह अंत तक चलता है। वे साँचे में ढले-ढलाए हमारे सामने आते हैं। वे सर्वगुण-संपन्न हैं। दूसरे शब्दों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आदर्श नायक-नायिकाओं तथा अन्य पात्रों का निर्माण किया है। इसीलिए उनके पात्रों में संशय या अन्तर्द्वन्द्व नहीं मिलता। साधारण से साधारण पात्र में भी आदि से अंत तक कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं होता। उनके नायक-नायिकाओं को देखकर हमें इस बात का अनुभव होने लगता है कि शायद सामान्य जीवन में ऐसे व्यक्तियों से भेंट नहीं हो सकती। इन सब दृष्टियों से उनके सभी प्रकार के पात्र अलग-अलग होते हुए भी बहुत-कुछ समान दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही नायक-नायिकाओं का बहुमुखी व्यक्तित्व भी नहीं है, उनका व्यक्तित्व एकांगी है। वे केवल किसी भाव का आदर्श या वर्ग के प्रतिनिधि पात्र हैं, व्यक्ति नहीं, जैसे हरिश्चन्द्र सत्यवादिता के, चन्द्रावली भक्ति की और नीलदेवी नारी-वीरता की प्रतिनिधि है। इन सबका एक अलग-अलग वर्ग है। वे प्रारंभ से जिस भाव या विचार या आदर्श की ओर झुके हुए दिखाए जाते हैं अंत तक धीरे-धीरे उसी ओर झुकते चले जाते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली', 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी' आदि की प्रस्तावनाओं या प्रारंभिक अंशों में जिन गुणों का उल्लेख मिलता

है अंत में वे गुण पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो जाते हैं। यह ठीक है कि नाटककार एक विशेष दृष्टिकोण ग्रहण कर उनका चित्रण करता है, और जो उचित भी है, किन्तु तब भी इससे उनका संपूर्ण व्यक्तित्व उभर नहीं पाता। इतने पर भी विशेषता यह है कि हम उनकी महानता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते; हम किसी भी प्रकार उन्हें अपूर्ण व्यक्ति नहीं समझते। अपनी महानता के कारण ही वे अंत में सफलता प्राप्त करते हैं। 'भारतदुर्दशा' में केवल भारत की नैराश्यजनित अवस्था छोड़ कर अन्य नाटकों में नायक-नायिकाओं को पराजय प्राप्त नहीं होती। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पात्रों का निर्माण बहुत-कुछ भारतीय परंपरा के अनुसार किया है। वे अपने पात्रों द्वारा जीवन का उज्ज्वल पक्ष पाठकों के सामने रखते हैं। उनके नायक-नायिकाओं की दैवी पवित्रता और उच्चता के सामने हम नत-मस्तक हो जाते हैं। इन सभी पक्षों पर विचार करते हुए हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाट्य-कृत्तियों को पात्र या चरित्र-प्रधान ही कहेंगे। उनमें घटनाओं का प्राधान्य नहीं है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' में तो कुछ घटनाओं का उल्लेख भी है, किंतु 'चन्द्रावली' और 'भारतदुर्दशा' में और 'वैदिका हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'अंधेर नगरी' नामक प्रहसनों में घटनाओं का बहुत कम प्राधान्य है। किन्तु सभी में चरित्र-चित्रण की ओर ही नाटककार ने अधिक ध्यान दिया है। हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा, नीलदेवी की वीरता, चन्द्रावली का कृष्णानुराग, भारत की दीन-हीन दशा आदि का चित्रण करना ही उसका मुख्य ध्येय रहा है। साथ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने चरित्र-चित्रण में सरलता भी रखी है। उनके चरित्र-चित्रण में अस्वाभाविक या अतिरंजनापूर्ण बातें भले ही मिल जायँ, किन्तु उसमें मनोवैज्ञानिक दुरूहता नहीं मिलती। अंतर्द्वन्द्व न रहने के कारण भी ऐसा हो सका है, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। वे पात्रों के हृदय में बहुत भीतर पैठना नही चाहते। कथोपकथन, स्वगत-भाषण, पत्र और

कुछ हद तक निजी कार्य-व्यापार द्वारा उनके पात्र अपना चरित्र विवृत करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पात्रों के अनुकूल कथानक भी चुने हैं और उन कथानकों में उनके पात्र पूर्णतः खप जाते हैं। इसीलिए उनके पात्रों में स्वाभाविकता है। अस्तु, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के चरित्र-चित्रण की अपनी निजी विशेषताएँ हैं जिनका संबन्ध मानव-हृदय से है। वे पाठकों में आत्मशुद्धि और पवित्रता का संचार करते हैं। उनके मुख्य-मुख्य पात्र कार्य का दायित्व अपने ऊपर लिए हुए वस्तु को पार्थिव जगत से ऊपर उठा देते हैं। साथ ही वे सब मिलकर भारतेन्दु का आत्म-विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनूदित नाटकों में से 'विद्यासुन्दर' का सुन्दर (नायक) प्रेमी नवयुवकों में से है जो प्रेम के वशीभूत हो साहसिक बन जाते हैं। वह अपने कार्य में सफल होने के लिए हर प्रकार का कार्य करने के लिए तैयार है। प्रेम के बाज़ार में वह मानापमान की परवा नहीं करता। यहाँ तक कि वह कारागार-यातना सहन करता और अपने प्राण तक संकट में डाल देता है। जन्म से वह कांची का राजकुमार है किन्तु प्रेम की पीर के कारण वह अपना उच्च पद भूल जाता है और पहले चौकीदार से झगड़ा कर बैठता है और तत्पश्चात मालिन के साथ अपना संबन्ध स्थापित कर उसका अतिथि बन जाता है। किन्तु वह रसिक और कला-प्रेमी है। अपनी वाक्-पटुता द्वारा वह हीरा मालिन का सहयोग प्राप्त कर कार्य-कुशलता का परिचय ही नहीं देता, वरन् अपनी रसीली बातों तथा कलात्मक ढंग द्वारा तैयार की गई माला द्वारा विद्या (नायिका) का मन हर लेता है। वह विद्या को अपने प्रेम के जाल में इतना अधिक फाँस लेता है कि विद्या एक क्षण भी उसके बिना जीवित नहीं रह सकती, यहाँ तक कि वह अपनी प्रेमाकुलता के कारण अपने पिता को विवाह-संबंधी प्रतिज्ञा तक के भूल जाने पर बाध्य करती है। वर्द्धमान नगर के राजा वीरसिंह की इसी पुत्री के रूप और गुण की प्रशंसा सुन सुन्दर खिंचा

चला आता है। विद्या भी मालिन द्वारा सुन्दर के रूप की प्रशंसा सुन उससे मिलने के लिए आतुर हो उठती है और अंत में अपना प्राण-धन उससे हार जाती है। नाटककार ने उसमें एक प्रेम और विरह-पीड़िता नारी के सभी लक्षणों का आरोपण कर दिया है। वह अपने प्रेमी के सामने अपना दैन्य प्रकट करती और उससे दया की भीख माँगती है। वास्तव में विद्या साकार प्रेम है। विद्या और सुन्दर के प्रेम में वासना की गंध है। 'धनंजय विजय' में अर्जुन प्रधान पात्र हैं, यद्यपि महाभारत के कुछ अन्य प्रधान पात्र, जैसे, दुर्योधन, युधिष्ठिर, भीमसेन विराट आदि तथा देवता इन्द्र भी हैं। परंपरा के अनुसार अर्जुन का अतुलित बल प्रकट करना नाटककार का मुख्य ध्येय है। अन्य पात्रों का चरित्र भी परम्परानुसार है। 'कर्पूर-मंजरी' का राजा हास-परिहास और शृङ्गार-प्रिय है। भैरवानन्द से वह आश्चर्यपूर्ण कौतुक के रूप में किसी सुन्दर स्त्री को ही बुलवाना चाहता है, पूर्णमासी का चन्द्रमा पृथ्वी पर उतरवाना चाहता है। दूसरे अंक में वह अपने शृंगार-पूर्ण विचार प्रकट करता है और अंत में भैरवानंद की कृपा से कर्पूर-मंजरी के साथ विवाह संपन्न करता है। प्रारंभ में बसंत के वातावरण से प्रभावित होना भी उसकी शृङ्गार-प्रियता का परिचायक है। रानी भी विनोद-शीला और शृङ्गार-प्रिय और अपने पति की इच्छाओं का आदर करने वाली है। स्वयं कर्पूर-मंजरी प्रेम की भावना से ओतप्रोत नारी है। इन तीनों प्रधान पात्रों की शृंगारिकता की भावना में वासना है।

'मुद्राराक्षस' में सर्वप्रथम चाणक्य हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। वह चन्द्रगुप्त का परम हितैषी है और उसके प्रति सच्चा स्नेह रखता है। वह राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार कराने वाली प्रतिज्ञा के पूर्ण करने में तन्मय है। उसने अत्यन्त कौशल के साथ अपने गुप्त-चरों का जाल फैला रखा है। वह जिस कार्य को हाथ में लेता है उसी कार्य में दिन रात मग्न रहने वाला व्यक्ति है। विविध कार्यों में व्यस्त रहने पर भी वह किसी बात को भूलता नहीं है। उसने अपने मन में यह

दृढ़ विचार कर रखा है कि जहाँ तक हो सकेगा राक्षस के जीतने में कम-से-कम रक्तपात होगा। नाटककार ने केवल कुछ व्यक्तियों और मलयकेतु के साथी पाँच राजाओं की मृत्यु के संकेत के अतिरिक्त रक्तपात को कहीं स्थान नहीं दिया। चाणक्य ने चन्दनदास जौहरी को कैद कर रखा है। वह उसे मार डालना नहीं चाहता, क्योंकि वह राक्षस के गुणों से परिचित है। वह राक्षस को प्रत्युपकार द्वारा जीतना चाहता है। चाणक्य सरल साधारण जीवन व्यतीत करने वाला ब्राह्मण है। वह बाहर से कठोर, किन्तु भीतर से कोमल है। चाणक्य की सहृदयता का पूर्ण परिचय हमें नाटक के अंतिम अंश से मिल जाता है। वह तभी तक कूटनीतिज्ञ, निष्ठुर और कठोर है जब तक राक्षस चंद्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार नहीं कर लेता। अभीष्ट-सिद्धि हो जाने के बाद वह मलयकेतु तथा विरोधी पक्षवालों को मुक्त करा देता है। वास्तव में चाणक्य अमानव नहीं, महामानव है। 'मुद्राराक्षस' की समस्त घटनावली राक्षस पर आधारित है. चाणक्य उसी पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। राक्षस बुद्धिमान और स्वामिभक्त है। उसके इन्हीं गुणों पर चाणक्य मोहित है, इसीलिए वह चंद्रगुप्त की सुरक्षा के लिए उसे मंत्री बनाना चाहता है। वह नंद-वंश के विरोधियों से प्रतिशोध लेने की भावना से प्रेरित होकर विविध कार्यों में संलग्न होता है। सेना का संगठन करने के लिए एक राजा की आवश्यकता समझ वह पर्वतेश्वर और फिर मलयकेतु की सहायता करता है। किन्तु कूटनीति और भेदनीति का आश्रय ग्रहण करने पर भी वह असफल होता है। कारण केवल यही है कि उसकी भावुकता उसकी कूटनीति को दुर्बल बना देती है। वह अपनी असफलता को देखकर स्तब्ध हो जाता है, लेकिन चाणक्य की प्रशंसा किए बिना नहीं रहता। वह चाणक्य और चंद्रगुप्त में फूट उत्पन्न करने में तो असफल रहता और दैव को याद करने लगता है, किन्तु चाणक्य की भेदनीति के फलस्वरूप मलयकेतु जब उसकी सचाई में संदेह कर उससे अलग हो जाता है तो उसे हार्दिक वेदना होती है। चंदनदास के

साथ मित्रता का निर्वाह करने में राक्षस ने एक उच्च आदर्श की स्थापना की है। मित्र की रक्षा के लिए वह अपना वध कराने के लिए प्रस्तुत है और अंत में मित्र की रक्षा के लिए ही चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार करता है। वास्तव में राक्षस के मानवोचित गुण उसकी पराजय के कारण बन जाते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है। वह चाणक्य के प्रति पूज्य भाव रखता है और अपनी तथा अपने राज्य की सुरक्षा के लिए पूर्ण रूप से उस पर निर्भर रहता है। वह अपने गुरु चाणक्य का परम भक्त है और उसके आदेशानुसार प्रत्येक कार्य करता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे अपनी शक्ति और स्थिति का ज्ञान नहीं। कौमुदी महोत्सव के कृत्रिम झगड़े के समय वह अपनी स्वतंत्रता का परिचय देता है। किन्तु वह जानता है कि झगड़ा कृत्रिम है और अंत में कहता है :

'गुरु-आयसु छल सों कलह करिहू जीय डराय।
किमि नर गुरुजन सों लरहिं यहै सोच जिय, हाय॥'

इस प्रकार अंत में चन्द्रगुप्त का गुरुभक्त-रूप ही हमारे सामने रह जाता है। मलयकेतु चन्द्रगुप्त का प्रतिद्वन्द्वी है। किन्तु उसमें उन सभी गुणों का अभाव है जो चन्द्रगुप्त में पाए जाते हैं। चन्दनदास जौहरी छोटा-सा किन्तु आदर्श और प्रिय चरित्र है। अपने मित्र राक्षस के लिए वह अपना सब कुछ खो देता है और अपने प्राण तक संकट में डाल देता है। वास्तव में 'मुद्राराक्षस' नाटक के पात्र न तो देवता हैं, न सत् के आदर्श हैं और न पूर्ण रूप से असत् ही हैं। छोटे बड़े सभी पात्र सत् और असत् के मिश्रण हैं। चाणक्य के दूत उससे भयभीत होकर उसके आदेशों का पालन करते हैं। इसके विपरीत राक्षस के दूत उसके प्रति भक्ति के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। 'मुद्राराक्षस' के सभी पात्रों का अपना-अपना व्यक्तित्व है। यद्यपि उनमें सब बातें अच्छी नहीं पाई जातीं, तो भी वे छाया मात्र नहीं हैं। इसके अतिरिक्त 'मुद्राराक्षस' के

चरित्र-चित्रण की एक विशेषता यह है कि उसके दो पात्र बहुत कुछ समान होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं, जैसे चाणक्य और राक्षस, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु। चाणक्य और राक्षस दोनों चतुर राजनीतिज्ञ साहसी, युक्ति-संपन्न, चिंतनशील, हर प्रकार का साधन काम में लाने वाले, स्वार्थ रहित, अपने-अपने आश्रितों के सच्चे हितैषी और एक दूसरे के प्रयत्नों को निष्फल करने का विचार रखने वाले हैं। यदि उनके कार्यों में कहीं तुच्छता दिखाई पड़ती है तो वह कार्य की गुरुता और ध्येय की निस्वार्थता एवं पवित्रता के स्पर्श से दूर हो जाती है। इतनी समान बातें होने पर भी चाणक्य राक्षस नहीं और राक्षस चाणक्य नहीं है। चाणक्य स्पष्ट और कठोर कार्य-नीति वाला, आत्म-विश्वासी और सतर्क है। राक्षस के विचारों में कोमलता और भावुकता है। इसलिए वह अपने कार्य में सफल नहीं हो पाता। चाणक्य अपना भेद किसी को नहीं बताता, सहसा हर एक का विश्वास नहीं करता और अपनी नीति की चोटों से किसी को नहीं छोड़ता। राक्षस स्पष्टताप्रिय, अपना भेद बता देना वाला, नम्र और उदार है। चाणक्य से सब लोग डरते हैं। राक्षस सब का प्रिय है। चाणक्य में प्रखरता है, राक्षस में स्निग्धता। चाणक्य के चरित्र में भावुकता और कोमलता के लिए कोई स्थान नहीं। उधर राक्षस में कर्त्तव्य-परायणता और सचाई ऐसे गुण हैं जिनकी प्रशंसा स्वयं चाणक्य तक करता है। राक्षस के गुणों पर ही चाणक्य अपनी विजय का प्रासाद निर्मित करता है। वास्तव में राक्षस की पराजय से उतना दुःख नहीं होता, जितना कि उसकी अपने गुणों के कारण पराजय से। वह चाणक्य के सामने कमज़ोर है, यह कोई बड़ी बात नहीं है। जो बात महत्व की है वह यह है कि राक्षस अपने चरित्र की विशेषताओं के वशीभूत होकर अपने को अंत में करुणाजनक परिस्थिति में डाल देता है। चाणक्य कूटनीति बरतता ही नहीं, वरन् अपने जीवन का प्रत्येक क्षण कूटनीति पूर्ण वातावरण में व्यतीत करता है। राक्षस भी कूटनीति का व्यवहार करता है, किन्तु वह उसके जीवन का

प्रधान और प्रमुख अंग नहीं बन पाती। वह कूटनीतिज्ञ के अलावा एक मानव की भाँति भी जीवन व्यतीत करता है। चाणक्य दया करना न जानते हुए भी दुष्ट नहीं है, दुरात्मा नहीं है। और यद्यपि वह छल, कपट, जाल आदि सभी साधनों का प्रयोग करता है, किन्तु उसकी भावुकताहीन, ठोस और चतुर नीति की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। राक्षस की असफलता और उसकी आशाओं तथा प्रयत्नों पर पानी फिरते देख हमें उसके प्रति सहानुभूति हो जाती है। उसके मित्रता-संबंधी उच्च आदर्श को देखकर उसके प्रति श्रद्धा होने लगती है। उसका आत्म-समर्पण शानदार किन्तु साथ ही करुणापूर्ण है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त और मलयकेतु में समानता यह है कि दोनों साधनमात्र होते हुए भी अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। किन्तु साथ ही यह भेद भी है कि यदि चन्द्रगुप्त दासी से उत्पन्न, महत्वाकांक्षी, और अपनी स्थिति के अनुसार सत्ता, चरित्र, भाव और शान रखने वाला है, भली-भाँति दीक्षित और अपने गुरु में पूर्ण विश्वास रखने वाला है, तो मलयकेतु लोभी, पितृभक्त, दुर्बल, हठी और अपने गुरु में पूर्ण विश्वास न रखने वाला व्यक्ति है। 'मुद्राराक्षस' में स्त्री-पात्रों का अभाव है—संभवतः लेखक को राजनीतिक क्षेत्र में स्त्रियों का स्थान मान्य नहीं था और यह तथ्य तत्कालीन स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालता है। केवल चन्दनदास की स्त्री अंत में आती है, किन्तु उसका आना न आना बराबर है, क्योंकि एक तो वह बहुत थोड़ी देर के लिए आती है, और फिर प्रधान घटनाओं से उसका कोई संबंध नहीं है। वह कर्त्तव्य-परायणा स्त्री है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की रचना सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के कुछ पक्षों की आलोचना करने के लिए कीग ई थी। अस्तु, उसमें जितने भी पात्र हैं सभी कुछ विशेष प्रवृत्तियों के प्रतीक मात्र हैं और वे अपने मौलिक रूप में ही बने रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में उनमें चारित्रिक विकास की आशा नहीं की जा सकती। वैसे भी इस प्रहसन में

ऐसी घटनाओं का अभाव हैं जिनके घात-प्रतिघात से पात्र का चरित्र उभर सके। यम और चित्रगुप्त पौराणिक पात्र हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' में राजा हरिश्चन्द्र, शैव्या और विश्वामित्र प्रधान पात्र हैं। नाटक के प्रथम अंक में नाटककार ने इन्द्र और नारद मुनि के वार्तालाप में राजा हरिश्चन्द्र के जिन गुणों का उल्लेख किया है उन्हें ही आगे चल कर विकसित रूप में रखा है, विविध घटनाओं के घात-प्रतिघात से उनके वे ही गुण उभर आते हैं। उनका निष्कपट और अकृत्रिम स्वभाव है और सत्य की वे मूर्ति हैं। सत्य पर उनका ऐसा स्नेह है जैसा भूमि, कोष, रानी और तलवार पर भी नहीं। 'निस्संदेह ऐसे मनुष्यों के उत्पन्न होने से भारत भूमि का सिर केवल इनके स्मरण से उस समय भी ऊँचा रहेगा जब यह पराधीन होकर हीनावस्था को प्राप्त होगी।' राजा हरिश्चन्द्र के आशय अत्यन्त उदार हैं, क्योंकि वे भीतर-बाहर एक से हैं, विद्यानुरागी और उपकार-प्रिय हैं, वे अधिकार में क्षमा, विपत्ति में धैर्य, संपत्ति में अनभिमान और युद्ध में स्थिर हैं। दान करके उन्हें प्रसन्नता होती है और कितना भी दें पर संतोष नहीं होता। सत्पात्र मिलने पर उन्हें स्वर्ण का पर्वत भी तिल सा दिखाई देता है। ईश्वर में उनकी निश्चला भक्ति है। उनके राज्य का प्रबंध अति उत्तम है। सब कार्यों को पूर्ण करते रहने पर भी उनमें व्याकुलता नहीं झलकती। कैसी भी विपत्ति या संकट पड़े और कैसी ही हानि या लाभ हो, परन्तु राजा हरिश्चन्द्र अपना न्याय और धैर्य नहीं छोड़ते। उनका सहज सा अभिमान-वचन है :

चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्यविचार॥

स्वर्ग पाने की इच्छा से वे धर्म-कृत्यों में प्रवृत्त नहीं होते। धर्म तो उनके निर्मल चरित्र से स्वतः प्रवाहित होता है। सहज-स्वाभाविक रूप से उनका हृदय शुद्ध है। अपने शुभ कार्यों के आनंद के सामने स्वर्ग का

अमृत पान भी उनके लिए तुच्छ है। राजा हरिश्चन्द्र में धीरोदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान हैं। उनमें क्षत्रियोचित वीरता और कष्ट सहिष्णुता की इयत्ता है। इन्हीं सब गुणों के कारण रौद्र रसावतार विश्वामित्र और द्वेषी इन्द्र द्वारा ली गई परीक्षा में राजा हरिश्चन्द्र उत्तीर्ण होते हैं, यद्यपि उन्हें स्वयं अपने को, अपनी स्त्री और अपने पुत्र तक को बेचना पड़ा। जिस समय सर्प-दंशित पुत्र को लेकर, भीषण वज्र-प्रहार सहन करती हुई, रोती कलपती शोक और करुणा की मूर्ति रानी शैव्या मरघट पहुँचती और विलाप करती है, तो त्रैलोक्य काँप उठता है। उस समय राजा हरिश्चन्द्र का मानव-सहज हृदय विचलित हो जाता है और वे असह्य पुत्र-शोक सहन न करने के कारण प्राणत्याग के लिए तैयार हो जाते हैं। राजा हरिश्चन्द्र सत्यवीर और धैर्य-की मूर्ति होते हुए भी आख़िर मनुष्य थे। किन्तु अन्तरिक्ष से यह ध्वनि सुनकर :

'सावधान हे वत्स परीक्षा अन्तिम है यह।
डिगन न पावे स्वत्व हरीच्छा अन्तिम है यह ॥'

वे सँभल जाते हैं और अपने कृत्य पर पश्चाताप करने लगते हैं। साथ ही कहते हैं—'ऐसा करने का हमें कोई अधिकार नहीं—मैं पराया दास हूँ।' यह है कर्त्तव्य, धर्म और सत्य का अन्तिम लक्ष्य। कफ़न माँगने को हाथ फैलाते समय राजा हरिश्चन्द्र पर आकाश से देवता पुष्प-वृष्टि करते हैं और कहते हैं :

'अहो धैर्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम्।
त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सत्वं लोकोत्तरं कृतम् ॥'

भारी संकट के समय इतना धैर्य और विवेक-बुद्धि राजा हरिश्चन्द्र में ही हो सकती थी। देवताओं, ऋद्धियों-सिद्धियों और महाविद्याओं की प्रार्थनाओं और प्रलोभनों पर ध्यान न देते हुए वे पर्वत की भाँति अटल बने रहते हैं। अंत में सत्य और धर्म की जय होती है। स्वयं

भगवान् 'धर्म और सत्य की परमावधि हो गई' कह कर रो पड़ते हैं। वे देवताओं की कीर्ति के भाजन बनते हैं। क्रूर परीक्षक विश्वामित्र भी उन्हें 'महात्मा हरिश्चन्द्र और 'वाह री महानुभावता' कह कर संबोधित करते हैं। राजा हरिश्चन्द्र अपने तप के बल से अपनी रानी, अपने पुत्र, राजा और भगवान् तक को पाते हैं। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने राजा हरिश्चन्द्र को सत्य और धर्म के प्रसाद रूप में दिया है। राजमहिषी शैव्या वीर-कन्या, वीर-पत्नी और वीर-माता हैं। भारतवर्ष में पत्नी को पति के वामांग के रूप में कल्पित किया गया है। पति पत्नी में सहज एकात्मता मानी गई है। महारानी शैव्या सच्चे अर्थ में अपने पति की सहधर्मिणी हैं। बस प्रारंभ में जब स्वप्न में दान की हुई पृथ्वी के वास्तविक अधिकारी के खोजने में राजा हरिश्चन्द्र व्यग्र हैं, शैव्या विनय-पूर्वक कहती हैं—'नाथ क्या स्वप्न के व्यवहार को भी सत्य मानियेगा'। इस पर राजा कहते हैं—'प्रिये हरिश्चन्द्र की अर्धांगिनी होकर तुम्हें ऐसा कहना उचित नहीं'। इस पर शैव्या कहती है—'नाथ! क्षमा कीजिए, स्त्री की बुद्धि ही कितनी'। और फिर आगे चाहे राजपाट से हाथ धोना पड़ा, दासत्व स्वीकार और दारुण पुत्र-वियोग सहन करना पड़ा, पति की कर्त्तव्य-परायणता की रक्षा के लिए कफ़न के स्थान पर आधा आँचर फाड़कर देना पड़ा, किन्तु उसके मन में कहीं शंका या मालिन्य नहीं है। जब पति ही दास होने वाला है तो वह स्वाधीन रह कर क्या करेगी। इसीलिए पहले बायाँ अंग बिक जाता है, तब कहीं दायाँ अंग बिकता है। शैव्या दासत्व स्वीकार भी करती है तो इस शर्त के साथ कि—'पर पुरुष के साथ संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़ कर सब सेवाएँ करूँगी।' इन सब बातों में शैव्या एक आर्य महिला का आदर्श हमारे सामने रखती है। पत्नी को अर्धांगिनी क्यों कहते हैं, यह बात उसने अपने चरित्र द्वारा समझाई है। फिर पुत्र-शोक की असह्य दारुण वेदना से पीड़ित हो जब वह गंगा में कूद कर प्राण देना चाहती है, उस समय अपने पति की यह वाणी सुनकर :

'तनहिं बेचि दासी कहवाई।
मरत स्वामि-आयसु बिन पाई॥
करु न अधर्म सोच जिय माहीं।
पराधीन सपने सुख नाहीं॥'

वह सावधान हो जाती है और धैर्य, धर्म तथा कर्त्तव्य का परमोच्च उदाहरण प्रस्तुत करती है। शैव्या भी धर्म-युद्ध में विजय प्राप्त कर पार्वती का आशीर्वाद पाती है। पति के साथ-साथ शैव्या की कीर्ति आज भी गाई जाती है। राजा हरिश्चन्द्र जितने महान् विजयी, सत्यव्रत और धर्मनिष्ठ हैं—विश्वामित्र उतने ही क्रूर, क्रोधी, अहंकारी और कठोर हैं। इससे राजा हरिश्चन्द्र का चरित्र और भी महान् हो जाता है। कला की दृष्टि से नाटककार के लिए यह आवश्यक ही था। जिस प्रकार राम की महानता चित्रित करने के लिए प्रतिनायक रावण को भी महान् चित्रित करना आवश्यक था, उसी प्रकार विश्वामित्र जैसा व्यक्ति ही राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने के लिए उपयुक्त था। विश्वामित्र का क्षत्रियोचित अमर्ष अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है। वैसे भी विश्वामित्र और राजा हरिश्चन्द्र के कुल-गुरु वसिष्ठ में वैर था। इस दृष्टि से भी परीक्षा रूपी घोर कर्म को विश्वामित्र के अतिरिक्त और कौन कर सकता था। विश्वामित्र की क्रूरता और कठोरता पर पाठकों को घृणा हो सकती है, किन्तु नाटकीय कला की दृष्टि से उन्होंने अपना कार्य भली-भाँति निभाया है। अंत में वे और इन्द्र दोनों ही राजा हरिश्चन्द्र के प्रति श्रद्धालु हो जाते हैं। इन्द्र की ईर्ष्या पुराण-प्रसिद्ध है। उसी के उकसाने से विश्वामित्र अपने कार्य में संलग्न होते हैं। रोहिताश्व यद्यपि बालक हैं, किन्तु वह अपने पिता की प्रतिमूर्ति हैं। इनके अतिरिक्त नाटक में पाप, पिशाच, डाकिनी, वैतालिक, धर्म आदि का भी मार्मिक और सजीव चित्रण हुआ है।

'चन्द्रावली' नाटक में श्रीकृष्ण तो स्वयं परब्रह्म हैं। 'श्रीमती की कोई बात ही नहीं, वे तो श्रीकृष्ण ही हैं, लीलार्थ दो हो रही हैं।' उन

सब में चन्द्रावली का प्रेम ही विलक्षण प्रेम है। उसका चरित्र-चित्रण श्री कृष्ण के प्रति प्रेम पर आधारित होकर हुआ है। वह कृष्ण के प्रति पूर्वानु-राग द्वारा उत्पन्न विरह से पीड़ित है। वह कितना ही चाहती है कि उस निष्ठुर का ध्यान भुला दे, पर उसकी छवि भूलती ही नहीं और सब उसका भेद जान जाते हैं। उसको विरह-पीड़ा निरंतर बढ़ती ही जाती है। वह पीली पड़ जाती है। वह स्वयं सब कष्ट सहन करने के लिए तैयार है। किन्तु प्रेम की पीड़ा का अनुभव करते हुए उसकी भगवान् से प्रार्थना है कि—'मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे', ताकि उसे ऐसी पीड़ा न हो जैसी स्वयं चन्द्रावली को हो रही है। इससे उसके सच्चे और निष्काम प्रेम का पता भी चलता है। 'संसार में जितना प्रेम होता है, कुछ इच्छा लेकर होता है और सब लोग अपने ही सुख में सुख मानते हैं।' पर उसके विरुद्ध चन्द्रावली बिना इच्छा के प्रेम करती है और प्रियतम के सुख में सुख मानती है। इसलिए वह 'प्रेमियों के मण्डल को पवित्र करने वाली है।' इसी प्रकार चन्द्रावली का प्रेम अकथनीय और अकरणीय है, क्योंकि 'जहाँ माहात्म्य-ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य-ज्ञान नहीं होता।' परन्तु चन्द्रावली के प्रेम में माहात्म्य-ज्ञान और प्रीति का पूर्ण सामंजस्य है। उसका विरह यहाँ तक बढ़ जाता है कि वह अपनी सुधि तक खो बैठती है, कण-कण में कृष्ण के दर्शन दिखाने वाली उन्मादा-वस्था को प्राप्त होती है और प्रियतम के साथ एकांत अद्वैत स्थापित करती है। 'यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमती जी का भी भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही हैं। लोकलाज और गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकते।' नाटककार ने वर्षा, झूला आदि के वर्णन से चन्द्रावली का विरह और भी अधिक उद्दीप्त कर दिया है और उसके वियोग-वर्णन में विरह की लगभग सभी दशाओं का समावेश है। वास्तव में प्रकृति की पीठिका में चन्द्रावली का प्रेम-विरह और भी उभर आया है। नाटककार ने

चन्द्रावली के चरित्र का यह पत्त अत्यन्त कलात्मकता और सौन्दर्य के साथ निबाहा है। नाटिका के अधिकांश में चन्द्रावली के विरह की प्रधानता है। अंत में वह अपने प्रियतम से मिलन प्राप्त करती है। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं तो अपुने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ। परन्तु मोहि निहचै है कै हमारे प्रेमिन को हम सों हूँ हमारो बिरह प्यारो है। ताही सों मैं हूँ बचाय जाऊँ हूँ। या निठुरता में जे प्रेमी हैं विन को तो प्रेम और बढ़ै और जे कच्चे हैं विनकी बात खुल जाय। सो प्यारी यह बात हूँ दूसरेन की है। तुमारो का, तुम और हम तो एक ही हैं। न तुम हम सौं जुदी हो न प्यारी जू सों।' चन्द्रावली की सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं और वह रस की पोषक सिद्ध होती है। वह 'कुल को, वरन् जगत् को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करने वाली है।' सांप्रदायिक दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने चन्द्रावली के परम निष्काम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति, कृष्ण में एकान्त भक्ति, अपने को दीनहीन समझना, अपने को असहाय समझना, पूर्ण रूप से कृष्ण के अनुग्रह पर निर्भर रहना आदि पुष्टिमार्गीय भक्ति के गुणों का आरोपण किया है।

'विषस्य विषमौषधम्' में चरित्र-चित्रण के लिए कोई गुंजायश नहीं है। 'भारत-जननी' के पात्र तत्कालीन विभिन्न वर्गों तथा नाटककार के विचारों के प्रतीक हैं। 'भारतदुर्दशा' के पात्र भी नाटककार की भावधारा के प्रतीक मात्र हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय नें एक ओर तो भारतीय पतन के चिन्ह चारों ओर विद्यमान थे, दूसरी ओर भारतीय नवोत्थान की भावना से प्रेरित नवशिक्षित भारतवासी जीवन के भावी प्रशस्त मार्ग का निर्माण करने में संलग्न थे। भारत में अँगरेज़ी साम्राज्यवादी और औपानिवेशिक शासन नीति के फलस्वरुप पश्चिम की जीवित जाति के साथ सम्पर्क स्थापित होने का जो परिणाम दृष्टिगोचर होना चाहिए था वह नवशिक्षितों के प्रयास करने पर दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में पालित-पोषित अल्पसंख्यक नवशिक्षितों को छोड़कर अधिकतर नवशिक्षित पश्चिम की चकाचौंध

उत्पन्न करने वाली सभ्यता के आघात से मार्ग-भ्रष्ट हो गए थे। इसके अतिरिक्त जो बहुत बड़ा भाग शेष था वह अंधकार-लिप्त था। यह सब कुछ देखकर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में पालित-पोषित अल्पसंख्यक भारतवासियों को अत्यन्त दुःख और निराशा का सामना करना पड़ता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'भारतदुर्दशा' में अपने समय के भारतीय जीवन की इसी परिस्थिति का चित्रण किया। भारत-दुर्दैव नायक का उन्होंने सजीव और सफल चित्र पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। 'भारतदुर्दशा' का अध्ययन कर हम समस्त तत्कालीन दोषों से परिचित हो जाते हैं। प्रतिनायक भारत-भाग्य और भारत का अंतिम चित्रण बहुत कुछ वस्तुस्थिति पर ही आधारित है। भारतभाग्याकाश उस समय कुज्झटिकाच्छन्न ही था। किन्तु यदि हम भारत, भारत-भाग्य और सात सभ्यों के सभी कथनों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो प्रकाश की क्षीण रेखा अवश्य दिखाई दे जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की इस प्रतीकात्मक रचना में जिन सात सभ्यों का चित्रण है (पाँचवाँ अंक) वे उन शक्तियों के प्रतिनिधि हैं जो उस समय भारत की दशा सुधारने में दत्तचित्त थे। ऐतिहासिक कारणों से बंगाली शिक्षा और सार्वजनिक क्षेत्र में अग्रगण्य थे। संपादक भी तत्कालीन सार्वजनिक जीवन के प्रधान अंग थे। कवियों (तथा अन्य साहित्यिकों) से ऐसे साहित्य-सृजन की आशा थी जो देश के उत्थान में सहायक हो सकता था। इन सभी का भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। बंगालियों, संपादकों और रीतिकालीन परंपरा के मोह में ग्रस्त कवियों की प्रमुख-प्रमुख विशेषताओं का उद्घाटन करने में उन्होंने अपनी अभिव्यंजना-शक्ति का परिचय दिया है। इन तीनों वर्गों को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं भली-भाँति जानते थे। संपादक और कवि तो वे थे ही। साथ ही अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभव से देशी लोगों की प्रवृत्तियों से भी वे अनभिज्ञ नहीं थे। चुग़ली खाना, सरकारी अफ़सरों से सशंकित रहना और दूसरों के दोषों पर दृष्टि रखना, यही उनका कार्य था। अस्तु, इस रचना में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

ने प्रतीकों का भी सजीव और विस्मृत न होने वाला रूप उपस्थित किया है। किन्तु 'भारत-जननी' में ऐसा नहीं हो सका। उसमें प्रत्येक पात्र एक बार अपना कथन समाप्त कर फिर हमारे सामने नहीं आता। अतः उसमें चरित्र-विकास की गुंजायश ही नहीं।

'नीलदेवी' में सूर्यदेव, नीलदेवी और अब्दुश्शरीफ़ख़ाँ प्रधान पात्र हैं। सूर्यदेव सच्चा राजपूत है। वह शक्ति का धनी होते हुए भी अधर्म द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त करना नहीं चाहता :

'वे अधर्म से लड़ें, हम तो अधर्म नहीं कर सकते। हम आर्य्य वंशी लोग धर्म छोड़कर लड़ना क्या जानें ? यहाँ तो सामने लड़ना जानते हैं। जीते तो निज भूमि का उद्धार और मरे तो स्वर्ग। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू हैं; और यश तो जीतें तो भी हमारे साथ है और मरें तो भी।'

स्वयं शरीफ़ के अनुसार 'सूरजदेव एक ही बदबला है। इहातए पंजाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं।' शत्रु सूर्यदेव की प्रशंसा करते हैं। 'आसमान शामियाना और ज़मीन ही उसे फ़र्श है।' मुसलमान आततायियों को 'अजब बदकिरदार से पाला पड़ा' था। वह :

'अजदर है भभूका है जहन्नुम है बला है।
बिजली है गजब इसकी है तलवार खबरदार ॥'

किन्तु अंत में वह गिरफ्तार हो जाता है। उस समय भी वह अपने देश-प्रेम का परिचय देता है और भारत की स्वाधीनता के संबंध में चिंता प्रकट करता है। उसकी यह हार्दिक इच्छा है कि मरते समय यही सुने कि आर्यकुल की जय हुई और यवन सब भारतवर्ष से निकाल दिए गए। उसे अपना धर्म प्राणों से भी अधिक प्रिय है। जिस समय यवनों ने उससे इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा तो उसने अमीर के मुँह पर थूक कर अपना आक्रोश प्रकट किया। परवश और

पिंजड़े में बन्द होते हुए भी सूर्यदेव भय से दीनता स्वीकार नहीं करता। यहाँ तक कि क्षात्रधर्म का पालन करते हुए वह वीर गति को प्राप्त होता है। बंधन में मरना अच्छा न समझ कर वह पिंजड़ा तोड़ कर बाहर निकल आता है और अकेले सत्ताईस यवनों को मार कर उन दुष्टों के हाथ से प्राण त्याग करता है। सूर्यदेव एक धार्मिक वीर पुरुष था। उसने धर्म और देश के लिए अपने जीवन की बलि चढ़ा दी। नीलदेवी जब अपने पति की मृत्यु का समाचार पाती है तो पहले तो अत्यन्त दुःखित होती है, किन्तु शीघ्र ही अपने पति के हत्यारों से प्रतिशोध लेने की ठान लेती है। किन्तु अपने पुत्र सोमदेव को सावधान करते हुए वह खुल्लमखुल्ला युद्ध न कर कौशल से विजय प्राप्त करना चाहती है। यह बात उसकी व्यावहारिक बुद्धि का परिचय देती है, क्योंकि वह जानती है कि सूर्यदेव की मृत्यु से निराश होकर बहुत-से राजपूत वीर अपने-अपने घर चले गए हैं। वह स्वतंत्र रूप से कार्य करना जानती है और संकट पड़ने पर बुद्धि की स्थिरता प्रकट करती है। वह नीति-कुशल और निर्भय है। अपनी सतर्कता का तो उसने उसी समय संकेत दे दिया था जिस समय उसने अपने पति से कहा था—'पर सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं।' राजकुमार के कान में कुछ बात कहते समय भी उसकी नीति-कुशलता और सतर्कता का पता चलता है। उसमें दूरदर्शिता और समयानुकूल कार्य करने की क्षमता है। जिस समय वह नर्तकी के रूप में अमीर के खेमे में जाकर अपने पति की मृत्यु का बदला लेती है उस समय उसके ये सभी गुण कार्य रूप में परिणत होते हुए दिखाई पड़ते हैं। अमीर से बात करते समय वह अपना वाक्-चातुर्य प्रकट करती है। वह जानती है कि राजसभाओं में एक गायिका को किस शिष्टाचार से बात करनी चाहिए। अमीर को वह खूब शराब पिलाती है और अन्त में उसे उसकी विलासिता का मज़ा चखाते हुए अपना चण्डिका नाम सार्थक करती है। उसकी इच्छा थी कि उस चांडाल को वह अपने हाथ से मारे। इसी लिए उसने राजकुमार को

लड़ने से रोक दिया था। अपनी इच्छा पूर्ण कर वह पति के शव के साथ सुखपूर्वक सती हो जाती है। जिस प्रकार सूर्यदेव सच्चा क्षत्रिय था, उसी प्रकार नीलदेवी सच्ची क्षत्राणी और वीरांगना थी। उसके माध्यम द्वारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रस्तुत रचना की भूमिका में प्रकट किए गए उद्देश्य की पूर्ति करने में सफलता प्राप्त की है। शरीफ़ यह जानता है कि सूर्यदेव से सामने लड़कर कभी विजय प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए वह धोखे से उसे फाँस लेना चाहता है। धोखेबाज़ होने के साथ-साथ वह क्रूर, कूटनीतिज्ञ, खुशामदपसन्द और विलासी है। वह अपनी विजय के लिए नीच से नीच कार्य में भी तत्पर हो सकता है! 'नीलदेवी' में पागल का चरित्र भी अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। उसका प्रलाप केवल हास्योत्पादक प्रलाप मात्र न होकर सारगर्भित और सोद्देश्य हुआ है। भटियारी, चपरगटटू ख़ाँ और पीकदान अली का प्रसंग एक ओर तो युद्ध से पहले का आनंदोत्सव प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर हास्य की अवतारणा।

'अंधेर नगरी' (प्रहसन) घटना-प्रधान है और प्रत्येक पात्र पाठकों का मनोविनोद करता है। इस एक विशेषता के अतिरिक्त पात्र निर्जीव हैं। राजा के चौपट होने का परिचय तो प्रारंभ में ही मिल जाता है। राजा बुद्धू और मनमानी करने वाला है। स्वर्ग के लोभ में फाँसी के लिए प्रस्तुत हो जाने से वह अपने 'गुणों' को सार्थक सिद्ध करता है। प्रहसन के प्रत्येक पात्र, विशेषतः राजा, के चित्रण और हास्य की अवतारणा में अतिरंजना पाई जाती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'प्रेम जोगिनी' और 'सतीप्रताप' रचनाएँ अपूर्ण होने के कारण पात्रों के चरित्र का पूर्ण विकास उपस्थित नहीं करती।

कथोपकथन—चरित्र-चित्रण पर विचार करने के साथ-साथ कथोपकथन पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में संवाद प्रायः दो या तीन पात्रों में रहते हैं। संवाद में कथोप-

कथन के अतिरिक्त उनके पात्र स्वगत-कथन, और कभी-कभी व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक वर्णन, का आश्रय भी ग्रहण कर लिया करते हैं। शैव्या और राजा हरिश्चन्द्र का कथोपकथन, चन्द्रावली और उसकी सखियों का कथोपकथन, चन्द्रावली और भारत-भाग्य के स्वगत-कथन आदि संवाद के विविध रूप हैं। इसके अतिरिक्त 'सत्य हरिश्चन्द्र' में इन्द्र और नारद, 'चन्द्रावली' में शुकदेव और नारद, 'भारतदुर्दशा' में भारत-भाग्य द्वारा अपनी दशा का वर्णन आदि व्याख्यात्मक या विश्लेषणात्मक कथोपकथन हैं। इन सब साधनों का उपयोग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया है जिससे पात्रों के चरित्र और उनकी मनोदशा तथा आंतरिक भावों पर प्रकाश पड़ता है। उनके कथोपकथनों से नाटकीय कथावस्तु गति प्राप्त करती है और अनेक ऐसी बातों का पता चलता है जिन्हें नाटककार स्वयं अपनी ओर से न कह सकता था। 'नीलदेवी' में सूर्यदेव की वीरता का परिचय बहुत-कुछ मुसलमान पात्रों की बातचीत से मिलता है। इसी प्रकार उनके कथोपकथनों से भावी और विगत बातों का पता चलता है। 'नीलदेवी' में मुसलमान पात्रों या नीलदेवी और राजकुमार तथा अन्य सैनिकों की बातचीत से आगे घटित होने वाली बातें ज्ञात हो जाती हैं और 'चन्द्रावली' में चन्द्रावली और उसकी सखियाँ आपस के संभाषण से विगत बातों की सूचना देती हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कथोपकथनों की एक विशेषता यह भी है कि उनके पात्र अपनी शिक्षा-दीक्षा स्वभाव और धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति के अनुकूल भाव प्रकट करते हुए कथोपकथन में संलग्न होते हैं। राजा हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारत-भाग्य, शरीफ़ और उसके साथी, शरीफ़ और नीलदेवी, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के पुरोहित, वेदांती, शैव आदि, या 'भारतदुर्दशा' में बंगाली, एडीटर, कवि और देशी सब अपनी भिन्न-भिन्न स्थितियों के अनुसार भाव प्रकट करते हैं। ऐसा देखने में नहीं आता कि एक अशिक्षित पात्र पंडित की भाँति बात करे अथवा एक दुष्ट पात्र सज्जन की भाँति बात करे। 'भारत-जननी' में सब पात्र

स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी बात आकर कह जाते हैं, इसलिए उसमें कथोपकथन का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। 'चन्द्रावली' में चन्द्रावली और उसकी सखियों का कथोपकथन स्त्रियोचित और शृङ्गारपूर्ण मनोदशा के अनुकूल ही हुआ है। स्थिति और मनोदशा के अनुकूल कथोपकथन रखने के साथ-साथ भाषा का प्रयोग भी पात्र और अवसर की दृष्टि से स्वाभाविक रूप में है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में शैव, बंगाली, पुरोहित, 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र का प्रारंभ में शैव्या के साथ और बाद को काशी के बाज़ार में, शैव्या का प्रारंभ में तथा बाज़ार में और विलाप करते समय, 'चन्द्रावली' में चन्द्रावली का प्रलाप करते समय अथवा उसकी सखियों द्वारा झूला झूलते समय, 'नीलदेवी' में शरीफ़ और उसके साथियों में बातचीत के समय, अथवा नीलदेवी का चंडिका-रूप में शरीफ़ के दरबार में, 'अंधेर नगरी' में महंत और उसके दो-शिष्यों के वार्तालाप के समय भाषा की स्वाभाविकता देखते ही बन पड़ती है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के नाटकों में इस दृष्टि से अन्य अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं। सामान्यतः उन्होंने लंबे-लंबे कथोपकथन नहीं रखे, किन्तु जहाँ भावों की तीव्रता या रस की निष्पत्ति पाई जाती है वहाँ वे स्वगतों के रूप में आवश्यकता से अधिक लंबे होकर नाटकीय कार्य-व्यापार की प्रगति में बाधक सिद्ध होते हैं। स्वयं भारतेंदु के मतानुसार 'किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लंबी-चौड़ी काव्य-रचना नाटक के उपयोगी नहीं होती।' रंगमंच पर भी वे बाधक ही सिद्ध होंगे। किंतु जी उबाने वाले तो उन्हें नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रचना-पद्धति की दृष्टि से बाधक और अस्वाभाविक होते हुए भी उनमें सरसता का अभाव नहीं है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में काशी-वर्णन या श्मशान घाट से संबंधित विविध वर्णन या शैव्या-विलाप, 'चन्द्रावली' में चन्द्रावली के लंबे-लंबे स्वगत, 'भारतदुर्दशा' में भारत-भाग्य के स्वगत आदि में वीभत्स, शृंगार (वियोग), करुण, वीर, हास्य, आदि रसों की निष्पत्ति पाई जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कवि थे,

अतएव उपयुक्त स्थलों पर अपनी भावुकता प्रकट किए बिना न रह सके हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इतना ही क्या कम है कि उन्होंने बहुत कम स्वगतों का प्रयोग किया है। वैसे भी रस की सृष्टि तो उनके सामान्य कथोपकथनों की विशेषता है। उदाहरण के लिए, 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' में ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे। उन्होंने आकाशभाषित के प्रयोग द्वारा भी पात्र की मनोदशा, उसके स्वभाव, भावी घटना आदि का परिचय दिया है। किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में आकाशभाषित स्वगत-कथनों से भी कम है, और जो हैं भी वे स्वाभाविकता की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। उदाहरणार्थ, 'सत्य हरिश्चन्द्र' में राजा हरिश्चन्द्र द्वारा काशी के बाज़ार में आकाशभाषित। प्रहसनों के अतिरंजनापूर्ण स्थलों को छोड़कर भारतेन्दु ने केवल वाक्-प्रपंच को स्थान नहीं दिया, क्योंकि वागाडंबर से न तो दर्शकों का अंतःकरण उन्नत होता है और न अन्य कोई कार्य सिद्ध होता है। उन्होंने वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता और वाग्मिता को अधिक स्थान दिया है। उनके पात्र अपने भाव सीधे-सीधे प्रकट करते हैं, न कि प्रपंच या हेर फेर के साथ। पात्रों के मानसिक भावों का प्रकटीकरण भी अवसरानुकूल हुआ है। भारतेंदु के कथोपकथनों में व्यावहारिकता, स्वच्छंदता और सजोवता है। साथ ही उनके पात्रों और उनके कथोपकथनों में सरल भावुकता प्रधान है, उनमें न तो बौद्धिकता या दार्शनिकता की बोझिलता पाई जाती है, और न काव्यात्मकता और आलंकारिकता, उनके बीच-बीच में छोटी-बड़ी स्वनिर्मित या दूसरे कवियों की कविताएँ या साधारण पद्यात्मक रचनाओं का अवश्य समावेश है, और जो अवसरानुकूल, मनोदशा पर प्रकाश डालने वाली और रस विशेष की पोषक हैं—किन्तु पद्यात्मक वार्तालाप बहुत कम है। कहीं-कहीं पद्यात्मक संवादों पर पारसी कम्पनियों की शैली का प्रभाव है, जैसे, 'चन्द्रावली' से एक उदाहरण इस प्रकार है :

'ललिता—कहाँ तुम्हारो देस है ?

जोगिन—प्रेम नगर पिय गाँव ।
ललिता—कहा गुरू कहि बोलहीं ?
जोगिन—प्रेमी मेरो नाँव ॥
ललिता—जोग लियो केहि कारनैं ?
जोगिन—अपने पिय के काज ।
ललिता—मंत्र कौन ?
जोगिन—पियनाम इक,
ललिता—कहा तज्यौ ?
जोगिन—जगलाज ॥......'

'कर्पूर-मंजरी' में विचक्षणा और राजा का संवाद एक स्थान पर गद्यात्मक है। 'चंद्रावली' और 'नीलदेवी' में कहीं-कहीं पर नौटंकी या स्वाँग की कथोपकथन-शैली भी दिखाई पड़ जाती है, किन्तु ऐसे स्थल इनकी रचनाओं में कम हैं। वास्तव में रचना-पद्धति और अभिनय की दृष्टि से कुछ अपवाद स्वरूप स्थलों को छोड़कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को संवाद के प्रत्येक रूप में सफलता प्राप्त हुई है। कहा गया है कि 'यह स्वभाव से ही अत्यन्त वाचाल थे और समाज-प्रिय थे। हर एक प्रकार के लोगों से, महाराजाओं से दरिद्री तक, पारंगत विद्वानों से लेकर मूर्खों तक यह मिला करते थे और इनका निज का दरबार लगा रहता था। इन कारणों से बातचीत करने तथा उत्तर-प्रत्युत्तर में यह बड़े कुशल थे। इन सबका इनके नाटकों में सफलतापूर्वक उपयोग हुआ है।' स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा है—'मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना देशों में भ्रमण करके नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन वास करे; तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुने तथा नाना प्रकार के ग्रंथ अध्ययन करे; वरंच समय में अश्वरक्षक, गोरक्षक, दास, दासी, ग्रामीण, दस्यु प्रभृति नीच-प्रकृति और सामान्य लोगों के साथ कथोपकथन करे। यह न करने से

मानवप्रकृति समालोचित नहीं होती। मनुष्यों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है उन लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं। केवल बुद्धि-वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् के वाह्य कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना होता है। और किसी उपकरण द्वारा नाटक लिखना झख मारना है।' इससे भारतेन्दु के चरित्रचित्रण और कथोपकथन संबंधी दोनों ही दृष्टिकोणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

अनूदित नाटकों में 'कर्पूर-मंजरी' और 'मुद्राराक्षस' के कथोपकथन पात्रानुकूल भाषा, व्यावहारिकता, भावव्यंजकता, स्वच्छंदता, सजीवता, कथानक को गतिशीलता प्रदान करने, चरित्रों पर प्रकाश डालने आदि की दृष्टि से सुन्दर बन पड़े हैं।

रस—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन रूप धारण कर अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने न केवल साहित्य के विविध रूपों की नवीन सृष्टि की वरन् रस-योजना में भी उन्होंने अपनी मौलिकता प्रकट की। परंपरा के अनुसार रस केवल नौ माने जाते हैं, किन्तु अपनी किशोरावस्था में ही उन्होंने वात्सल्य, प्रेम, सख्य, भक्ति और आनन्द नामक पाँच रसों की और कल्पना कर डाली थी। बाबू ब्रजरत्नदास के अनुसार प्रसिद्ध विद्वान् पं० ताराचरण तर्करत्न ने अपने 'शृंगार-रत्नाकर' (१६१६ वि०) में एक स्थान पर लिखा है—'हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्यसख्यभक्त्यानंदाख्यामधिकं रसचतुष्टयं मन्त्रते'। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' नामक निबंध में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, वीभत्स, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनन्द नामक रसों की गणना की है। 'विद्यासुंदर' में संयोग शृंगार की प्रधानता है। प्रेम उसमें स्थाई भाव है। विद्या के अल्पकालीन विरह में वियोग शृंगार है। कहीं-कहीं हास्य रस भी मिल जाता है। 'पाखंड विडंबन' में

स्पष्टतः शान्त रस की प्रधानता है। 'धनंजय विजय' के युद्धभूमि-वर्णन में रौद्र रस है। 'कर्पूर-मंजरी' में शृंगार, अद्भुत और हास्य का मिश्रण है। 'मुद्राराक्षस' में वीर रस की प्रधानता है। उसमें यद्यपि युद्धादि का अभाव है, तथापि उत्साह स्थायी भाव है।[1] चन्दनदास जौहरी की स्त्री की परिस्थिति में करुण रस की झलक मिल जाती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में हास्य रस है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में स्थायी भाव उत्साह होने से वीर रस की प्रधानता है। राजा हरिश्चन्द्र दानवीर और सत्यवीर हैं। राजा हरिश्चन्द्र द्वारा पुत्रावस्था पर विचार, स्मृति, ग्लानि आदि के कारण शोक, शैव्या-विलाप आदि में करुण और श्मशान-वर्णन में भयानक, अद्भुत और वीभत्स रस हैं। विश्वामित्र के स्वभाव-चित्रण में रौद्र रस है। इसके अतिरिक्त उसमें अद्भुत रस भी पाया जाता है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'चंद्रावली' में प्रेम रस माना है, किन्तु उसे हम शृंगार के अंतर्गत रख सकते हैं। 'चंद्रावली' में वियोग शृंगार की प्रधानता है। चन्द्रावली का कृष्ण के प्रति प्रेम या रति ही स्थायीभाव है। कृष्ण आलंबन हैं। आलंबन में श्रवण, चित्र, स्वप्न और प्रत्यक्ष दर्शनों में से 'चंद्रावली' में श्रवण-दर्शन और प्रत्यक्ष-दर्शन हैं। सखियों की उपस्थिति, वन-उपवन, वर्षा, हिंडोला आदि उद्दीपन हैं। साथ ही स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले संचारी भावों का भी अभाव नहीं हैं। रस की पोषक चन्द्रावली आश्रय है। वियोग के पाँच प्रधान कारणों (पूर्वानुराग, प्रवास, ईर्ष्या, विरह, शाप) में से 'चन्द्रावली' में पूर्वानुराग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उसमें अभिलाषा, चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप आदि विरह की सभी दशाओं का समावेश है। प्रारंभ में नारद और शुकदेव के

---

१. स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'मुद्राराक्षस' में उद्योग वीर नामक रस माना है, क्योंकि उसमें मुख्य अंगीभाव से कोई रस न पाकर उन्हें उद्योग वीर की कल्पना करनी पड़ी।

वार्तालाप में शांत रस है और सखियों के हास-परिहास में शृंगार तथा हास्य रस। 'विषस्य विषमौषधम्' में, स्वयं भारतेन्दु के अनुसार, हास्य रस है। 'भारत-जननी' में करुण और वीर रस प्रधान हैं। 'भारतदुर्दशा' में भारत-दुर्दैव के प्रयास में उत्साह होने के कारण वीर रस और भारत-भाग्य की अवस्था में करुण रस माना जायगा। हास्य के लिए उसमें कहीं-कहीं उपयुक्त स्थल आ गए हैं। 'नीलदेवी' में वीर (युद्ध) रस की प्रधानता के अतिरिक्त हास्य भी है। 'अंधेर नगरी' में स्पष्टतः हास्य रस है। इस प्रकार, भारतेन्दु की गणना के अनुसार, भक्ति, वात्सल्य और प्रमोद को छोड़ कर उनकी रचनाओं में लगभग सभी रसों का परिपाक पाया जाता है। भारतेन्दु स्वभाव से विनोदी थे। अतएव प्रहसनों को छोड़कर उनकी अन्य नाटकीय रचनाओं में हास्य की अवतारणा प्रायः रहती ही है। उनका यह हास्य कुरुचिपूर्ण और निरर्थक न होकर कथानक का प्रधान अंग है, जो एक आधुनिक प्रवृत्ति है। उनके हास्य में भी देशहितैषिता छिपी रहती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रस-विरोध को भी अपनी रचनाओं में स्थान नहीं दिया। जैसे, हास्य तो शृंगार के साथ पाया जाता है, किन्तु शृंगार के साथ करुण, वीभत्स, रौद्र, भयानक या शांत रस नहीं पाए जाते। वियोग के अंतर्गत तो करुण का समावेश हो सकता है, किन्तु पुत्र-शोक द्वारा उत्पन्न करुण शृंगार का विरोधी माना जाता है। वास्तव में नाटकों के सौंदर्य की रक्षा के लिए विरोधी रस बचा कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपना मुख्य उद्देश्य नष्ट नहीं होने दिया।

देश-काल—प्रत्येक कलाकार की रचना का उसके जीवन की चारों ओर की परिस्थितियों के साथ घनिष्ठ संबंध होता है। भारतेन्दु की रचनाएँ भी इस दृष्टि से अपवाद नहीं हैं। उनके नाटकों में उनका युग भली भाँति प्रतिबिंबित है। उन्होंने अपना जीवन ही स्वदेश-चिंता के लिए अर्पित कर दिया था। सामाजिक, धार्मिक, राज-नीतिक, और आर्थिक जीवन के सभी पक्षों पर उन्होंने अपनी दृष्टि

डाली। उस समय समाज में चारों ओर कुरीतियों और कुप्रथाओं का प्राबल्य था और धर्म और समाज के नाम पर नाना प्रकार के ढोंग और मिथ्याचार प्रचलित थे। अँगरेज़ों की नीति के कारण समाज शिक्षितों और अशिक्षितों के दो विभागों में बँट गया था। शिक्षित व्यक्ति यदि ईसाइयत और अँगरेज़ियत के पुजारी बन बैठे थे, तो अशिक्षित जन रूढ़ियों और अंधविश्वासों में जकड़े हुए थे। नवोत्थान की भावना से प्रेरित होकर अनेक सुधारक सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण कर चुके थे, किन्तु वे भारतीय संस्कृति से परिचित न होने कारण देश के लिए घातक सिद्ध हो रहे थे। देश की राजनीतिक परिस्थिति भी अच्छी नहीं थी। कर, महँगी, दुर्भिक्ष आदि से जनता पीड़ित थी। साहित्य की उन्नति की ओर लोगों की विशेष रुचि नहीं थी। अपने जीवन-काल की इन सब बातों तथा समाज के विविध वर्गों के प्रतिनिधियों को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों में स्थान दिया है। उनकी रचनाओं में भारतीय इतिहास के पौराणिक, मध्य और आधुनिक तीनों युग प्रतिबिंबित हैं। उनमें श्रीकृष्ण से लेकर डोम तक विद्यमान हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी उनकी रचनाओं में वीरगाथा काल, भक्ति काल, रीति काल और आधुनिक काल सभी काल साकार हो उठे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने चारों ओर के जीवन का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण कर उसे अपनी रचनाओं में स्थान दिया था। 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्,' 'भारत-जननी,' 'भारतदुर्दशा,' 'नीलदेवी,' और 'अंधेर नगरी' में भारत के तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन के जीते-जागते चित्र मिलते हैं। उनमें हमें भारत के उत्थान और पतन की कहानी मिलती है। यहाँ तक कि 'धनंजय विजय,' 'कर्पूर-मंजरी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' में विषय भिन्न रखते हुए भी उनके भरत-वाक्यों में वे स्वदेश-हित नहीं भूल सके। वास्तव में उनकी इन रचनाओं के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास भली-भाँति लिखा जा सकता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के गंगा-

वर्णन से तत्कालीन काशी के सामान्य जीवन का परिचय प्राप्त होता है। 'प्रेमजोगिनी' (अपूर्ण) भी इस दृष्टि से सहायक सिद्ध होती है। इसी प्रकार तत्कालीन आचार-विचार, वेशभूषा आदि के संबंध में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संकेत दिए हैं, यद्यपि ऐसा करने में काल-दोष उत्पन्न हो गए हैं। प्राचीन पात्रों को आधुनिक वेशभूषा में चित्रित करना, 'सत्य हरिश्चन्द्र' के प्राचीन कथानक में अपने समय की काशी का वर्णन करना, आधुनिक काशी के वर्णन ('प्रेमजोगिनी') में पौराणिक पात्रों का उल्लेख करना आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। प्राचीनों को अपने-अपने काल-विशेष की वेशभूषा में चित्रित करने की प्रथा तो पिछले समय से—विशेषतः उत्तर रीतिकाल से—चली आ रही थी। अंतिम प्रवृत्ति साहित्यिक परंपरा का पालन मात्र है। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाएँ जीवन के रंग में रँगी हुई हैं। यह उनकी अपनी विशेषता है

प्रकृति-वर्णन—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन और उनकी रचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनका मन भारतीय मानव में ही रमा हुआ था। प्रकृति की ओर वे अधिक ध्यान न दे सके। उनका अधिकांश जीवन काशी में ही व्यतीत होता था। पूर्वजों के समय से चले आ रहे उद्यानादि के रहते हुए भी उनका मन प्रकृति-सौंदर्य की ओर आकृष्ट न हो सका। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में गंगा का वर्णन है, किन्तु वह काशी नगरी की गंगा का वर्णन है, न कि वन्य गंगा का। इसी प्रकार 'चंद्रावली' में यमुना का वर्णन चंद्रावली की सखी के हृदय पर पड़े प्रभाव का वर्णन है। जिन अंशों में स्वतंत्र प्रकृति का वर्णन है उसमें कोई नवीनता नहीं है। इस नाटिका में वर्षा-कालीन झूला-वर्णन भी परंपरानुगत है, और वह भी रस-पोषण की दृष्टि से। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चंद्रावली' के अतिरिक्त अन्य नाटकों में प्रकृति के उल्लेख का एक प्रकार से नितान्त अभाव है। सच तो यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने

नाटकों में प्रकृति-वर्णन को स्थान ही नहीं दिया। जहाँ कहीं थोड़ा-बहुत है भी वह ब्रजभाषा-काव्य की परंपरा के अनुसार वस्तुओं की गणना मात्र या उद्दीपन के रूप में है।

अभिनय—भारतेंदु हरिश्चन्द्र कृत 'नाटक' में लिखा है कि हिन्दी का सब से पहला नाटक जो १८६८ में बनारस थिएटर में खेला गया 'जानकी मंगल' था। रामायण की कथा निकाल कर यह नाटक पं० शीतलप्रसाद त्रिपाठी ने बनाया था। १८७७ में एक बंगाली थिएटर 'विद्यान्त नाट्यशाला' के नाम से लखनऊ में थी। उसमें स्वयं रामगोपाल विद्यान्त द्वारा बँगला से अनूदित पाँच अंकों का 'रामाभिषेक नाटक' खेला गया था। उक्त नाटक में अधिवास से लेकर बनवास तक की कथा है। प्रस्तावना, विदूषक और दर्शकों के मनोरंजन के लिए संगीत की अवतारणा की गई थी। फिर बनारस के नैशनल थिएटर में भारतेन्दु कृत 'अन्धेर नगरी' और प्रयाग और कानपुर में क्रमशः 'रणधीर प्रेममोहिनी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेले गए थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को 'चंद्रावली' नाटिका के अभिनय की बड़ी इच्छा थी, किन्तु यह बात उनके मन ही में रह गई। वास्तव में उस समय पश्चिमोत्तर प्रदेश में कोई शिष्ट रंगमंच और नाटक-समाज नहीं था। बम्बई के सस्ते ढंग के पारसी थिएटरों के कारण हिन्दी रंगमंच की सम्यक् उन्नति को भारी धक्का पहुँचा। सुहृद समाज इन पारसी थिएटरों को निकृष्ट और दुराचार के अड्डे समझता था। 'रत्नावली' (अनुवाद) की उस समय वही दशा थी जो पारसी नाटकों की। काशी में पारसी थिएटर वालों ने नाचघर में जब शकुंतला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की भाँति कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डॉक्टर थिबो, बाबू प्रमददास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कह कर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों पर नए ढंग के बँगला नाटकों और पारसी कंपनियों में खेले जाने वाले नाटकों का यत्रतत्र प्रभाव पाया जाता है। किन्तु उन्होंने अपने नाटकों की रचना अभिनय की दृष्टि से भी की थी, इसमें कोई संदेह नहीं। स्थान-स्थान पर वेशभूषा आदि का उल्लेख भी यही सिद्ध करता है। साधु रंगमंच और समुचित प्रयोगशाला के अभाव में उनके सभी नाटकों का अभिनय न हो सका और फलतः अभिनय की दृष्टि से उन्हें अपने नाटकों की त्रुटियाँ ज्ञात न हो सकीं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में अभिनय-कला के तत्व पाए जाने के साथ-साथ दोष भी पाए जाते हैं। उनके नाटकों की कथा की रचना में पूर्वापर संबंध होने के कारण अभिनय की समाप्ति तक दर्शक का कुतूहल बना रह सकता है। दृश्य भी स्थान की एकता को दृष्टि में रख कर विभाजित हुए हैं। ऐसा नहीं हुआ कि एक दृश्य दूसरे दृश्य से दूर और भिन्न स्थान पर रखा गया हो। इससे अभिनय, रंगमंच-संगठन और कम से कम परदों की आयोजना की आवश्यकता रह जायगी। दृश्यों में ऐसी अद्‌भुत और विलक्षण बातें भी नहीं हैं जो रंगमंच पर दिखाई न जा सकें। साथ ही उनके नाटकों में पात्रों की भीड़-भाड़ भी अधिक नहीं है। कम पात्र रहने के कारण अभिनय की व्यवस्था सुचारु रूप से की जा सकती है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार अभिनय चार प्रकार के माने गए हैं: आंगिकाभिनय, वाचिकाभिनय, आहार्याभिनय और सात्विकाभिनय। पहले दो प्रकार के अभिनय तो सामान्यतः उनके सभी नाटकों के साथ संलग्न हैं, किन्तु शेष दो के उदाहरणों का भी अभाव नहीं है। 'सत्य हरिश्चद्र' में चोबदार वा मुसाहिब लोग जब राजा के साथ रंगस्थल में प्रवेश करते हैं तब उनको कुछ नहीं कहना पड़ता। वे केवल अपने वेष भूषणादि के आहार्याभिनय द्वारा आत्मकार्य निष्पन्न करते हैं। इसी प्रकार 'चंद्रावली' नाटिका में रोमांच, कंप, अश्रु आदि द्वारा अवस्थानुकरण द्वारा सात्विकाभिनय प्रस्तुत किया जा सकता है। जहाँ तक अनुकृति से संबंध है उनके नाटकों में अनुकृति का अभाव नहीं

है। राजा हरिश्चन्द्र, शैव्या, भारत-भाग्य, चन्द्रावली, नीलदेवी आदि से संबंधित अनेक कार्य और मानसिक दशाएँ हैं जिनका अनुकरण भली भाँति रंगमंच पर किया जा सकता है। 'भारतदुर्दशा' के प्रतीकात्मक पात्र भी रंगमंच पर भली भाँति दिखाए जा सकते हैं। 'चंद्रावली' में श्रीकृष्ण का एकदम प्रकट हो जाना बिना किसी कठिनाई के प्रदर्शित किया जा सकता है। जहाँ तक भाषा से संबंध है, वह सरल और विभिन्नता लिए हुए है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में न तो विषय की दुरूहता है और न कथानक ही जटिल है। ये सब बातें इस बात का प्रमाण हैं कि उनके प्रायः सभी नाटक अभिनेय हैं। प्रत्येक के अभिनय में तीन-चार घंटे से अधिक समय नहीं लगेगा। अभी हाल ही में दिल्ली के कुछ विद्यार्थियों ने 'चंद्रावली' का अभिनय किया था। आवश्यक काट छाँट और सुधार के बाद उसमें डेढ़-पौने दो घंटे के लगभग लगे थे।

किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी उनके नाटकों का अपने मूल रूप में पूर्णतः सफल अभिनय हो सकेगा, इसमें सन्देह है। उनके प्रहसनों, भाण और 'भारत-जननी,' 'भारतदुर्दशा' और 'नीलदेवी' के अभिनय में तो स्पष्टतः कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु इन तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चंद्रावली' में अभिनय की दृष्टि से एक दोष यह पाया जाता है कि कथा आदि से अंत तक एक ही समान गति से चलती है और नियमानुसार अंक भी उत्तरोत्तर छोटे नहीं होते गए। इससे दर्शकों का जी ऊब जायगा। उनके अनूदित नाटकों में यह दोष नहीं पाया जाता। 'विद्यासुंदर' में कुतूहल की मात्रा विशेष रूप से पाई जाती है। इसके अतिरिक्त 'नीलदेवी' को छोड़कर उनके नाटकों में कार्य-व्यापार की कमी पाई जाती है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' इस दृष्टि से बहुत अधिक त्रुटिपूर्ण तो नहीं है, किन्तु तब भी उसके कार्य-व्यापार में शिथिलता है। व्यापार के अभाव से पात्र केवल आते-जाते और बातचीत करते हुए ही अधिक पाए जाते हैं। दूसरे उनमें दृश्यों की बहुलता न होने और विषय-परिवर्तन बहुत कम होने के कारण मनोरमता और नवीनता का अभाव

रहेगा। कविताओं की संख्या भी उनके नाटकों में बहुत अधिक रहती है। काव्य की अधिकता और घटनाओं की अप्रधानता होने के कारण अभिनय विशेष रुचिकर प्रतीत न हो सकेगा। कविताओं के कारण कार्य में बाधा पड़ती प्रतीत होगी। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चंद्रावली' में उदाहरणार्थ, कविताएँ क्रमशः लंबी और बहुसंख्यक हैं। विशेष रूप से 'चंद्रावली' की जो विशेषता है—रसात्मकता और काव्यतत्व—वही उसके सफल अभिनय में बाधक है। इन दोनों नाटकों में दिए गए अंकावतार भी परदों के गिराए जाने के संबंध में दर्शकों के सामने अव्यवस्था उत्पन्न करेंगे। और फिर 'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'चंद्रावली' और 'भारतदुर्दशा' में स्वगत-कथन बहुत लंबे-लंबे हैं जो अभिनय की दृष्टि से सफल न कहे जा सकेंगे। 'नीलदेवी' में पागल का प्रलाप भी आवश्यकता से अधिक है। कथोपकथन स्वाभाविक अवश्य हैं, किन्तु आवेगयुक्त नहीं हैं। स्वगत-कथनों को तो काट-छाँट कर छोटा किया जा सकता है। किन्तु अन्य बातों के संबंध में कोई विशेष परिवर्तन उपस्थित नहीं किया जा सकता। अस्तु, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक अभिनेय अवश्य हैं, वे इसी दृष्टि से लिखे भी गए थे, लेकिन अभिनय की दृष्टि से वे सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। ये दोष संभवतः हिन्दी की साधु अभिनय-शाला के अभाव से उत्पन्न हो गए हों, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने नाटकों को व्यावहारिक रूप में न देख सके। उनकी रचनाओं में साहित्यिकता का अंश विशेष रूप में रहने कारण उनके पढ़ने में आनन्द आता है। नाटक केवल साहित्यिक और पढ़ने से आनन्द देने वाले हों, या केवल अभिनेय हों, या उनमें दोनों का मिश्रण हो, इस संबंध में अन्तिम निर्णय अभी होने को है। संस्कृत में 'प्रबोधचन्द्रोदय' अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता, तो भी वह नाटक है। ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों की आलोचना केवल अभिनय की दृष्टि से ही नहीं करनी चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों के विविध प्रमुख पक्षों के अध्ययन

के बाद यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि उनके नाटकों में उनके युग का स्वर का प्रतिध्वनित है, उनमें उनके युग का जीवन मुखरित हो उठा है, तत्कालीन जीवन के सुख-दुःख, आशा-निराशा, भारत का प्राचीन गौरव, पतन और उसकी भावी आकांक्षाएँ साकार हो उठी हैं। उनकी रचनाओं में जीवन के कल्याण-मार्ग का संदेश छिपा हुआ है। पौराणिक, ऐतिहासिक तथा अपने चारों ओर के जीवन से सामग्री एकत्र कर उन्होंने भारतीय नवोत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। देश-प्रेम और ईश्वरानुराग उनकी रचनाओं में कूट-कूट कर भरा हुआ है। उन्होंने भारतीयत्व और राष्ट्रीयता को जन्म दिया। उनके द्वारा स्थापित यही नाटकीय परंपरा आगे चल कर पुष्पित-पल्लवित हुई। इस दृष्टि से 'प्रसाद' उनके सच्चे उत्तराधिकारी माने जा सकते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह सब कुछ उस समय किया जब कि हिन्दी में नाट्य-परंपरा का अभाव था। भारतीयत्व और राष्ट्रीयता के अतिरिक्त उन्होंने अपनी रचनाओं में रसात्मकता को स्थान देकर उन्हें साहित्यिकता प्रदान की और हिन्दी रंगमंच को गौरव प्रदान किया। अपने पात्रों द्वारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पश्चिम के अन्धानुकरण के स्थान पर देशी और विदेशी संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया। नाटकीय रचना-पद्धति में भी उन्होंने समन्वयात्मक बुद्धि ग्रहण की। समाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि जीवन के विविध क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया। उनके नाटकों में कोई न कोई उद्देश्य अवश्य छिपा हुआ है। सच तो यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र चौमुखी नव जागरण के अग्रदूत थे और उनकी नाटकीय रचनाएँ हिन्दी साहित्य का गौरव हैं।

उपन्यास

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'पूर्णप्रकाश-चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यास का कथानक सामाजिक है। लेखक ने लड़के-लड़कियों की शिक्षा पर

ज़ोर दिया है। अन्धे मन्दिरानन्द का अपनी पत्नी और नायक की बहन मधूरिमा पर, जो अपने भाई से बात कर रही है, परपुरुष से बातचीत करने का सन्देह करने वाला प्रसंग मनोरंजक होने के साथ-साथ बड़ा ही सच्चा और हृदय को स्पर्श करने वाला है। विवाह के समय बूढ़े दुण्ढिराज का मज़ाक बनाकर लेखक ने व्यंग्य के अमोघ अस्त्र का सहारा लिया है। कथानक में दक़ियानूसी और प्रगतिशील विचारों का संघर्ष है। अंत में विजय प्रगतिशीलता की होती है। कथानक नैतिक और शिक्षाप्रद है। संपूर्ण कथानक एकादश स्तवकों में विभाजित है और प्रत्येक स्तवक के प्रारंभ में नंददास, तुलसी, बिहारी आदि की काव्य-पंक्तियाँ और संस्कृत के नीति-वाक्य उद्धृत हैं। रचना-पद्धति की दृष्टि से कथानक सरल और सीधा है और वह जीवन की साधारण घटना पर आधारित है। उसमें पेचीदे स्थल नहीं हैं। लेखक ने घटनाओं, पात्रों, वातावरण आदि का वर्णन किया है। बीच-बीच में पात्रों के संक्षिप्त कथोपकथन हैं। पात्रों के संबंध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने व्याख्यात्मक शैली ग्रहण की है और उन्हें यंत्रचालित और मूक रूप प्रदान किया है। उनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं हैं। कथोपकथन का विशेष प्रयोग नहीं हुआ। जो हैं भी उनसे चरित्र-चित्रण, कथानक की गति आदि को विशेष बल नहीं मिलता। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत यह उपन्यास कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि की दृष्टि से कथा कहने की सरल शैली प्रस्तुत करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों लेखक ध्यान लगाए बैठे श्रोताओं को कोई कहानी सुना रहा हो। उपन्यास में चन्द्रप्रभा, पूर्णप्रकाश, आनन्दविग्रह, गुणमंजरी, गोकुलोत्सव, दुण्ढिराज, मधूरिमा और मन्दिरानन्द प्रधान पात्र हैं।

अन्य गद्य-रचनाएँ

जैसा कि पीछे उल्लेख किया जा चुका है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने शुद्ध साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त इतिहास, पुरावृत्त, जीवन-चरित्र,

राजनीति, समाज, धर्म, यात्रा-आदि विषयों से संबंधित अनेक छोटी-छोटी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। अनेक विषयों पर उन्होंने छोटे-छोटे लेख भी प्रकाशित किए, जिन्हें सामान्यतः आलोचक गण 'निबन्ध' के नाम से भी पुकारते हैं। खेद है भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के विविध विषय-संबंधी लेख अभी प्रकाश में नहीं आ सके। इन सभी प्रकार की गद्य-रचनाओं से भारतेन्दु की रुचि, मानसिक स्थिति, भावों की विदग्धता और मार्मिकता, प्रगतिशीलता, बहुज्ञता, व्यापक दृष्टिकोण आदि का परिचय प्राप्त होता है। उनके हरिद्वार, अयोध्या, वैद्यनाथ आदि की यात्रा से संबंधित लेखों में उनके व्यक्तित्व का स्वच्छंद रूप, विवेचनात्मकता, संवेदनशीलता, वर्णन-कौशल, निरीक्षण शक्ति, प्रकृति-वर्णन, हास्य, व्यंग्य आदि के सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं। 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन,' 'लेवी प्राण लेवी,' 'पाँचवें पैगंबर,' 'कंकड़ स्तोत्र,' 'अँगरेज़स्तोत्र' आदि में हास्य और व्यंग्य के साथ-साथ उनकी कल्पना-शक्ति भी प्रस्फुटित हुई है। 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन' में स्वामी दयानंद और केशवचन्द्र सेन के स्वर्ग जाने से वहाँ उठ खड़े हुए आन्दोलन का सुंदर वर्णन है। अन्य लेखों में भी सामाजिक, धार्मिक, सामयिक, और राजनीतिक व्यंग्य मिलते हैं। इससे भारतेन्दु की जागरूकता का परिचय प्राप्त होता है। 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' आत्मकथात्मक अपूर्ण लेख है। इस अपूर्ण रचना में भारतेन्दु की उपर्युक्त विशेषताओं के दर्शन होते हैं। उनकी इन गद्य-रचनाओं को वैसे तो कई प्रकारों के अंतर्गत रखा जा सकता है, किन्तु वे प्रधानतः विचारात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक और कल्पनात्मक कोटियों के अंतर्गत आती हैं।

काव्य

अब तक हम भारतेन्दु के गद्य-साहित्य की चर्चा करते आ रहे थे, किन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने विविध प्रकार के काव्य

साहित्य की रचना की। वैसे भी उस समय हिन्दी की साहित्यिक संपत्ति कविता ही थी। जहाँ तक कविता से संबंध है हिन्दी के कवि परिपाटी विहित और रूढ़िग्रस्त राधा-कृष्ण की लीलाओं और नायक-नायिकाओं के कल्पित ऐश्वर्य और विलास में डूबे हुए थे। इन भावों की अभिव्यक्ति के लिए कवियों के पास उपयुक्त साधन थे, और कविता के आदर्शों में अभी परिवर्तन नहीं हुआ था। ऐसे ही समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव हुआ। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने भी बहुत बड़ी हदतक परंपरा अथवा मध्ययुगीन प्रवृत्तियों और शैलियों का पोषण किया, किन्तु उदात्त रूप में। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रारंभिक जीवन की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि परंपरागत काव्य-धारा से एक दम विमुख हो जाना उनके लिए संभव नहीं था। एक तो स्वयं उनके पिता ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि थे। इसके अतिरिक्त वे काशी में सेवक, सरदार, हनुमान, नारायण, द्विज कवि मन्नालाल आदि ब्रजभाषा के उच्चकोटि के कवियों के संपर्क में आए। इसलिए यदि उन्होंने परंपरा के निर्वाह में योग दिया तो कोई आश्चर्य नहीं। कालगति से ब्रजभाषा का जो काव्य-प्रसाद जीर्ण-शीर्ण हो चला था उसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नवीन कलेवर प्रदान किया। भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से उसका परिमार्जन और परिष्करण किया। उन्होंने चमत्कार का आश्रय ग्रहण न कर भावानुभूति की सरस अभिव्यंजना को प्रधानता दी।

परंतु इसी समय हिन्दी के कवि पश्चिमी दुनिया के संपर्क में आ चुके थे और उनका ध्यान प्राचीन काव्य-परंपरा के निर्वाह के अतिरिक्त नवीन भावों और विचारों और अपने चारों तरफ़ की दुनिया की ओर भी जाने लगा। कई शताब्दियों बाद पहली बार हिन्दी-कवि अपनी पुरानी संपदा छोड़कर आगे बढ़ा। उसका हृदय नवोदित राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों के फलस्वरूप उत्पन्न विचारों से आंदोलित हो उठा। चारों ओर सुधार और प्रगति की आवाज़ सुनाई देने लगी और सुहृद-समाज को ब्रजभाषा साहित्य का (शृंगारपूर्ण) आदर्श

खटकने लगा। कवियों ने जीवन के विविध पक्षों से संबंधित अनीतियों और अनाचारों, कुरीतियों और कुप्रथाओं आदि का प्रचार देखा जिनसे देश की सामूहिक भलाई होने की कोई आशा नहीं थी। उनमें विचार-स्वातंत्र्य का जन्म हुआ और वे भारत की स्वाधीनता के स्वप्न देखने लगे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एक ऐसे ही आदर्श देशभक्त कवि थे। उन्होंने देशभक्ति, लोकहित, समाज-सुधार, मातृभाषोद्धार, स्वतंत्रता आदि की वाणी सुनाई। अन्य कवियों ने उनके स्वर में स्वर मिलाया।

१. मध्ययुगीन : (१) भक्ति-संबंधी रचनाएँ

'भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥'

अपने भक्त हृदय की प्रतीक उपर्युक्त पंक्तियों का निर्माण करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की परंपरानुरूप रचनाओं के अंतर्गत उनकी भक्ति-संबंधी रचनाओं का प्रधान और प्रमुख स्थान है। व्यक्तिगत रूप से वे वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे। 'होली,' 'रागसंग्रह,' 'वर्षा विनोद,' 'विनय-प्रेम-पचासा,' 'प्रेम-मालिका' आदि में अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जो उन्हें अनन्य वैष्णव सिद्ध करती हैं। वास्तव में वैष्णव धर्म (वल्लभी) उनका कुल-धर्म था, यह उनकी जीवनी से स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है। वे स्वयं गोस्वामी गिरिधर जी महाराज की सुपुत्री तथा गोपाल-मंदिर की अधिष्ठात्री श्यामा बेटी जी के शिष्य थे। वे युगल मूर्ति के उपासक थे :

'हम चाकर राधारानी के।
ठाकुर श्री नँदनंदन के वृषभानु लली ठकुरानी के॥
निरभय रहत बदत नहिं काहू डर नहि डरत भवानी के।
'हरीचंद' नित रहत दिवाने सूरत अजब निवानी के॥'

अथवा इस संबंध में उनकी चिरपरिचित पंक्ति प्रसिद्ध ही है :

'सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के।'

अनन्य वैष्णव होने के कारण ही उन्होंने कहा है :

'बृज के लता-पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह बर 'हरीचन्द' को दीजै॥'

उनका यही धार्मिक विश्वास उन्हें 'हरि-माया भठियारिन' के बंधन से मुक्त कर सकता था। वे मायावाद, वेदान्त, कर्म-काण्ड आदि के विरोधी थे। उदाहरणार्थ, अद्वैत के संबंध में उनका कहना है :

'कहो अद्वैत कहाँ सों आयो।
हमैं छोड़ि दूजो है को जेहिं सब थल पिया लखायो॥
बिनु वैसो चित पाएँ झूठो यह क्यौं जाल बनायो।
'हरीचन्द' बिनु परम प्रेम के यह अभेद नहिं पायो।'

× × ×

'जो पै सबै ब्रह्म ही होय।
तो तुम जोरु जननी माना एक भाव सों दोय॥
ब्रह्म ब्रह्म कहि काज न सरनो वृथा मरौ क्यों रोय।
'हरीचन्द' इन बातन सों नहिं ब्रह्महि पैहो कोय॥'

वेदान्त को तो उन्होंने भारत-पतन का एक कारण माना है। वास्तव में मायावाद और अद्वैत के विरोध में होना उनके लिए स्वाभाविक भी था। क्योंकि सांप्रदायिक दृष्टि से वे मायावाद के समर्थक न हो सकते थे। उनकी भक्ति-संबंधी रचनाओं में विनय, बाल-लीला, प्रेम-संबंधी, सख्य भाव-संबंधी आदि सभी प्रकार के पद मिलते हैं। यहाँ तक कि उन्होंने पुष्टिमार्ग की मूल राधारानी के बाल्य-काल-संबंधी पदों की सृष्टि भी की है। राधा-कृष्ण के प्रेम, मान और विरह, उद्धव गोपी-

संवाद, विरह के अंतर्गत मानी जाने वाली सभी दशाओं, मायामोह, इष्टदेव पर विश्वास, अपनी दीनता-हीनता आदि अनेक विषय ग्रहण कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने हृदय की सरलता और तन्मयता प्रकट की है। उनके भक्ति-संबंधी अधिकतर पदों में गीति-कला के लगभग सभी तत्व पाए जाते हैं और इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी की एक महान् परंपरा के प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी गीति-पद्धति को जन-गीतों के समीप ला बिठाया। 'नीलदेवी' के 'सोओ सुख-निंदिया प्यारे ललन' और 'प्यारी बिन कटत न कारी रैन' जैसे गीतों में वैयक्तिकता की पूर्ण अभिव्यंजना है जो उनके गीतों को नूतनता प्रदान करती है। पदों के अतिरिक्त होली, ठुमरी, सोरठ तथा उनकी उर्दू कविताओं में भी अनन्य भक्ति व्यक्त हुई है। भारतेन्दु की भक्ति पुष्टिमार्गीय भक्ति है। 'चन्द्रावली' तो इसका प्रमाण है ही, किन्तु उनकी कविताओं में भी जहाँ एक ओर दीनता-हीनता है, वहाँ दूसरी ओर उपालंभ और अक्खड़पन है। वे भगवान् की कृपा के आकांक्षी हैं। जिस प्रकार 'चन्द्रावली' में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने दांपत्य भाव और विरहोन्माद द्वारा अपनी भक्ति भावना प्रकट की है, ठीक उसी प्रकार अपनी अनेक कविताओं में दांपत्य भाव और विरहोन्माद प्रकट किया है :

...'मंगल भयो भोर मुख निरखत
मिटे सकल निसि दाग ॥
हरीचन्द आओ गर लागो
सांचो करो सोहाग ॥'

× × ×

'तो सों और न कछु प्रभु जाचौं...
विस्फुलिंग के जग-दुख तजि तव
विरह-अगिन तन वाचौं।'

और जिस प्रकार उन्होंने चन्द्रावली को स्वयं कृष्ण होते हुए चित्रित किया है उसी प्रकार वे स्वयं अपनी रचनाओं में तन्मयता की पराकाष्ठा को पहुँच जाते हैं। वैष्णव होने के कारण उन्होंने सांप्रदायिक वैष्णव गुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है और राधाकृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य देवी-देवता की आराधना नहीं की। 'तदीय समाज' की स्थापना भी उन्होंने अनन्य वैष्णव होने के नाते ही की थी। साथ ही वैष्णवों से संबंधित पर्वों, त्यौहारों, इष्टदेव के पदचिन्हों आदि का वर्णन उनके काव्य-साहित्य का प्रधान अंग है।

किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्वोल्लिखित सांप्रदायिक रूप के अतिरिक्त उनकी भक्ति में दो बातें ऐसी विशेष पाई जाती हैं जो उन्हें सांप्रदायिकता के बन्धन से अलग कर उन्हें सच्चे मानव और भक्त के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। इस रूप में भारतेन्दु के स्वर में कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ, रसखान, घनानंद, ठाकुर आदि सब का स्वर प्रतिध्वनित है। उदाहरणार्थ कबीर की भाँति ही तो उन्होंने कहा है :

'साँझ सबेरे पंछी सब क्या,
कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जायँगे,
यह दिन चार बसेरा है॥'

या उनकी लावनियों में कहीं-कहीं सूफ़ियों का सा स्वर सुनाई दे जाता है। इस संबन्ध में पहली बात तो यह है कि उन्होंने सब नियमों और बन्धनों, शास्त्र-मर्यादा, कुलकानि आदि से भी अधिक महत्व दिया प्रेम को। वास्तव में उनका सांप्रदायिक रूप प्रेम की व्यापक एवं विशाल भित्ति पर आधारित है और इसीलिए वह रस में विष घोलनेवाला सिद्ध नहीं हुआ। इस दृष्टि से चन्द्रावली उनकी प्रेम भक्ति का प्रतीक है। वह किसी भी प्रकार के बन्धन में न बँधकर अपने को केवल कृष्णार्पित कर देती है। प्रेमा भक्ति की प्रधानता के अतिरिक्त विनय, वात्सल्य,

सख्य, दास्य आदि भक्ति-भाव विषयक रचनाओं का भी भारतेन्दु-साहित्य में अभाव नहीं है। उन्होंने भारतीय कृष्ण-परंपरा को भली भाँति समझा और उसका सार तत्व हृदयगंम किया। 'भीष्म स्तवराज', 'वेणु गीत' और 'गीतगोविन्दानंद' में इसी परंपरा की प्रतिच्छवि मिलेगी। अपनी भक्ति को उन्होंने कोई आवरण नहीं पहिनाया। उनकी रूप-लालसा, अनन्यता, विदग्धता, स्वच्छन्दता, अन्तर्लीनता और अनुभूति मधुर स्वर धारण कर मुखरित हो उठी हैं। कृष्ण-परंपरा के वे एक सरल-हृदय गायक कवि थे। और केवल अपने ही लिए नहीं, वरन् देश की पीड़ित जनता के लिए भी उन्होने कृष्ण का आवाहन किया। सच तो यह है कि एक विशेष संप्रदाय से संबंध रखते हुए भी भारतेन्दु हरिश्चद्र सांप्रदायिकता में विश्वास नहीं रखते थे। कृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी वे सब धर्मों के प्रति व्यापक और उदार दृष्टिकोण रखते थे। उनका धर्म उन्हें धार्मिक असहिष्णुता और विद्वेष, व्यर्थ का वितंडावाद, वाद-विवाद और मतमतांतरों का संघर्ष नहीं सिखाता था। वे सब धर्मों की समान गति में विश्वास रखते थे। अपने धर्म को ही सब-कुछ और संसार में उसे ही सर्वोपरि समझने वाली संकुचित मनोवृत्ति और अंध विश्वास के पाश से वे मुक्त थे :

'नाहिं ईश्वरता अँटकी वेद में।
तुम तो अगम अनादि अगोचर सो कैसे मत-भेद में।'

× × ×

'जो पै झगरेन में हरि होते।
तौ फिर श्रम करिकै उनके मिलिबे हित क्यों सब रोते।'

× × ×

'खंडन जग मैं काको कीजे
सब मत तो अपने ही है इनको कहा उत्तर दीजै।'

× × ×

'कहौ रे इक-मत है मतवारो।
क्यों इतनो पाखण्ड रचि रहे बिनु पाए पिय प्यारो॥'

× × ×

'भये सब मतवारे मतवारे।
अपुनो अपुनो मत लै-लै सब झगरत ज्यौं भठिहारे॥

× × ×

'नहिं इन झगरन में कछु सार।
क्यों लरि लरिकै मरो बावरे बादन फोरि कपार॥'

× × ×

'ढूढ़ फिरा मैं इस दुनिया में पश्चिम से ले पूरब तक।
कहीं न पाई मेरे दिलदार प्रेम की तेरे झलक॥
मसजिद मंदिर गिरजों में देखा मतवालों का जा दौर।
अपने अपने रँग में रँगा दिखाया सब का तौर।
सिवा झूठी बातों व बनावट के न नज़र आया कुछ और।'

× × ×

'पियारो पैये केवल प्रेम मैं।'

× × ×

'प्रेम मैं मीन-मेष कछु नाहीं।'

यही उनकी दूसरी विशेषता है। यह उनके प्रेममय व्यक्तित्व का सर्वोत्कृष्ट रूप है। हिन्दी नवोत्थान के प्रतीक और नवयुग के संदेशवाहक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यही सच्चा स्वरूप है। उन्होंने अपनेपन पर, हिन्दुओं के निज स्वत्व पहिचानने पर, भारतीयता पर ज़ोर अवश्य दिया है, किन्तु उनके इस अपनेपन की परिधि निरंतर प्रसारोन्मुख थी, न कि संकीर्णोन्मुख। अपना अस्तित्व पहिचानते हुए भी वे समस्त विश्व को अपनी बाहों में भरे हुए थे। अन्य स्थलों पर मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति प्रकट किए गए विचार उनके ऐतिहासिक अध्ययन और राज-

नीतिक प्रतिद्वन्द्विता के द्योतक हैं। राजनीति के दलदल से बाहर मनुष्यता के नाते उनमें इस्लाम, ईसाइयत या अन्य किसी मत से किसी प्रकार भी धार्मिक विद्वेष नहीं था। हिन्दू होने के नाते उनसे यही आशा भी थी।

(२) **रीति शैली की रचनाएँ**—भारतेन्दु की भक्ति-संबंधी रचनाओं के बाद उनकी रीति शैली की रचनाओं का स्थान है। दोनों प्रकार की रचनाओं द्वारा उन्होंने मध्य-युग से अपना संबंध स्थापित कर रखा था। अनन्य भक्त होने के साथ साथ वे अनन्य रसिक भी थे। रसिकता तो उनके रोम-रोम में बसी हुई थी। यह उनके हृदय की रसात्मकता ही थी जो एक ओर उन्हें भक्ति और दूसरी ओर रीतिकालीन रचनाओं की ओर ले गई। उनकी अनेक रचनाएँ तो ऐसी हैं जो प्रत्यक्षतः रीति शैली के अंतर्गत शृंगारिक रचनाएँ प्रतीत होती हैं। किन्तु वास्तव में वे भक्ति के अंतर्गत शृंगारिक रचनाएँ हैं और उनमें प्रतीकात्मक अर्थ अंतर्निर्हित रहता है। 'होली,' 'मधु-मुकुल,' 'प्रेम-फुलवारी' आदि ग्रंथों के समर्पण भी इसी ओर संकेत करते हैं। उनकी ऐसी रचनाओं में शृंगार का आधार होते हुए भी व्यंजना भक्तिमय है। उनकी रीति शैली की रचनाओं को हम निश्चित रूप से प्राचीन रीतिकालीन कवियों की काव्य-परंपरा के अंतर्गत रख सकते हैं। स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न ने ब्रजभाषा की महिमा का गान करते समय कहा है:

'केशव अरु मतिराम बिहारी देव अनूपम।
हरिश्चन्द्र से जासु कूल कुसुमित-रसाल द्रुम ॥'

उनके इस कथन का तात्पर्य ही यही है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रीतिकाल के बड़े-बड़े कवियों की परंपरा में थे। उनकी भक्ति-संबंधी रचनाओं पर यदि कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ, रसखान आदि का प्रभाव है, तो रीति-शैली की रचनाओं पर देव, घनानंद, ठाकुर, बोधा, हठी, पद्माकर आदि

कवियों का प्रभाव मिलता है—विशेषतः घनानंद, आलम, ठाकुर, आदि कवियों का। इन कवियों की भाँति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में प्रेम की स्वच्छंदता है, नूतनता और आंतरिक भावनाओं की अभिव्यंजना है, न कि भाषा के साथ खिलवाड़। उन्होंने यद्यपि काव्य के बाह्य रूप को स्थान दिया अवश्य, या केशव, बिहारी आदि की झलक भी प्रकट की, किन्तु उनका मन घनानंद, ठाकुर, आलम आदि में अधिक रमा हुआ था। और यद्यपि भारतेन्दु की रचनाओं में राधाकृष्ण तथा सामान्य नायक-नायिकाओं की केलि-क्रीड़ा पर आधारित संयोग और वियोग पक्ष, अथवा नायिका-भेद, आदि का वर्णन हुआ है, जैसे,

'श्याम पियारे आज हमारे,
भोरहि क्यौं पगु धारे।
बिनु मादक ही आज कहो,
क्यौं घूमत नैन तुम्हारे ॥'......

अथवा,

'दामिनि बैरिनि बैर परी।
जान न देत पिया प्यारे ढिंग
प्रगटत बात दुरी ॥
रैन अँधेरा स्याम बसन तन,
जद्यपि रहत घरी।
तऊ चमकि बिनु बात बैरिनी
मेरी लाज हरी ॥'

अथवा,

'काले परे कोस चलि चलि थकि गए पाय सुख के कसाले परे ताले परे नसके।
रोय-रोय नैनन में हाले परे जाले परे मदन के पाले परे प्रान पर बसके ॥
'हरिचंद' अँग हूँ हवाले परे रोगन के सोगन के भाले परे तन बल खसके।
पगन में छाले परे बाँधिबे को नाले परे तऊ लाल लाले परे रावरे दरसके ॥'

अथवा,

'आजु सिंगार कै केलि के मन्दिर बैठी न साथ मैं कोऊ सहेली।
धाय कै चूमैं कबौं प्रतिबिंब कबौं कहै आपुहि प्रेम पहेली॥
अंक में आपुने आपै लगै 'हरिचंद जू' सी करै आपु नवेली।
प्रीतम के सुख मैं पियमैं भई आए तें लाज के जान्यौ अकेली॥'

जो क्रमशः खण्डिता, कृष्णाभिसारिका, अभिसारिका, वासकसज्जा नायिकाओं के वर्णन हैं, तो भी उन्होंने न तो नायक-नायिका भेद पर कोई लक्षण-ग्रंथ लिखा, न रस, अलंकार और पिंगल पर। वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आचार्य-कवियों की परंपरा में न होकर केवल प्रेम की परिपाटी ग्रहण करने वाले रसिक कवियों की परंपरा में थे। भाषा की दृष्टि से भी उन्होंने आचार्य-कवियों का अनुसरण नहीं किया। यद्यपि खोजने से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में ऐसे उदाहरण भी यत्रतत्र मिल जायँगे जिनमें उन्होंने भाषा-चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा की है, किन्तु यह उनकी प्रमुख प्रवृत्ति न थी। जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' पर 'गीतगोविन्दानन्द' की रचना तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के स्वाभावानुकूल थी ही, किन्तु 'सतसई सिंगार' भी उनकी रुचि के विपरीत नहीं है। 'सतसई' पर लिखी गई कुंडलियों में बिहारी का वाग्वैभव और चमत्कार लक्षित नहीं होता। उनकी रीति शैली की रचनाओं में उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार के स्थान पर रसानुभूति की प्रधानता है। उनमें अकृत्रिमता और सहज स्वाभाविकता है। साथ ही रीतिकालीन हिन्दी काव्य में जो ऊहात्मक अतिशयोक्तियाँ मिलती हैं उनका भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में अभाव है :

'एक ही गाँव में बास सदा घर पास इहौ नहि जानती हैं।
पुनि पाँचएँ सातएँ आवत जात की आस न चित्त में आनती है।
हम कौन उपाय करैं इनको 'हरिचन्द' महा हठ ठानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।'

'लै मन फेरिबो जानौ नहिं अलि नेह निबाह कियो नहि जानत।
हेरि कें फेरि मुखै 'हरिचंद जू' देखनहू को हमें तरसावत।
प्रीत-पपीहन कों घन-साँवरे पानिप-रूप कबौं न पिआवत।
जानौ न नेक बिथा पर का बलिहारी तऊ हौ। सुजान कहावत ॥'

× × ×

'आजु लौं जौ न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं।
जो 'हरिचंद' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावैं ॥'

शृंगार के अंतर्गत वियोग-पक्ष का लगभग सभी रीतिकालीन कवियों ने वर्णन किया है। किन्तु उनके विरह-वर्णन में नैसर्गिकता के स्थान पर नायिका के साथ खिलवाड़ किया गया मिलता है। विरह-जन्य अनेक ऐसे व्यापारों और चिन्हों का वर्णन मिलता है जिन्हें पढ़कर नायिका के प्रति समवेदना के बजाय उस पर हँसी आती है। रीतिकाल के बड़े-से-बड़े कवि की रचनाएँ इस दोष से मुक्त नहीं हैं। इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र व्रजभाषा-काव्य परंपरा में अपना विशेष स्थान रखते हैं। 'चंद्रावली' में उन्होंने प्रेम और विरह का जो स्वाभाविक, हृदय-स्पर्शी और मार्मिक वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है :

'अलि सांवली सूरत मोहनी मूरत,
आँखिन को कबौं आइ दिखाइए।
चातक सी मरैं प्यासी परीं,
इन्हें पानिप रूप सुधा कबौं प्याइए ॥
पीत पटै बिजुरी से कबौं,
'हरिचंद जू' धाइ इतै चमकाइए।
इतहूँ कबौं आइ कै आनँद के घन,
नेह को मेह पिया बरसाइए ॥'

किंतु 'चंद्रावली' में दी गई कविताएँ रीति शैली में होते हुए भी भाव और अनुभूति की दृष्टि से भक्ति परक रचनाएँ ही मानी जायेंगी। उनके 'प्रेम-माधुरी,' 'राग-संग्रह,' 'वर्षा-विनोद' आदि काव्य-ग्रंथों में शृंगार के अंतर्गत विरह-व्यथा का विशद वर्णन है। एक स्थान पर मान का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है :

'दौरि उठि प्यारी गर लावै गिरधारी किन
ऐसे पियहू सों किन बोलै कल बादिनी।
देखु 'हरिचन्द' ठीक दुपहर तेरे हेतु,
आयो चलि दूर सों पियारो री प्रमादनी॥'

इसी प्रकार वियोग के अन्तर्गत प्रवास और विरह की दस दशाओं—अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता और मरण—के भी अत्यन्त कौशल के साथ चित्र चित्रित किए गए हैं।

वियोग पक्ष के साथ-साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रीति शैली की कविता में संयोग पक्ष की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। शृंगार संयोग में ही प्रतिफलित होता है। काव्य-परंपरा के अनुसार श्रवण, गुण-कीर्तन आदि की गणना संयोग शृंगार के अंतर्गत की जाती है। प्रथम भेंट का सुंदर वर्णन करते हुए कवि कहता है :

'जा दिन लाल बजावत बेनु अचानक आय कढ़े मम द्वारे।
हौं रही ठाढ़ी अटा अपने लखि कै हँसे मो तन नन्द दुलारे॥
लाजि कै भाजि गई 'हरिचंद' हौं भौन के भीतर भीति के मारे।
ताही दिना तें चवाइन हूँ मिलि हाय चवाय कै चौचन्द पारे॥'

इन चवाइनों का वर्णन करते हुए एक सखि कहती है :

'ब्रज मैं अब कौन कला बसिए बिनु बात ही चौगुनों चाव करै,
अपराध बिना 'हरिचंद जू' हाय चबाइनैं घात कुदाव करैं॥

पौन मों गौन करे हीं लरी परै हाय बड़ोई हियाव करैं ।
जों सपने हूँ मिलै नन्दलाल तौ सौतुख मैं ये चवाव करैं ॥'

किंतु प्रेम इन समस्त बाधाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुँच जाता है और सम्मिलन होकर ही रहता है :

'वे देखो पौढ़े ऊँचे महल दोउ,
झलकत रूप झरोकन आई ।
हँसनि मुरनि बतरानि परस्पर,
कछुक दूर तै परत लखाई ॥'

अथवा,

'कुञ्ज बिहारी हरि सँग खेलत
कुञ्ज- बिहारिनि राधा ।
आनन्द भरी सखी सँग लीने
मेटि बिरह की बाधा ॥'

शृंगार रस के अंतर्गत उद्दीपन के रूप में षट्-ऋतुओं, हिंडोला, जल-क्रीड़ा, फाग, बन-विहार आदि का वर्णन किया जाता है। साथ ही शृंगार के अंग के रूप में नखशिख-वर्णन की परंपरा भी पाई जाती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने परंपरानुसार विविध उद्दीपनों और नखशिख के वर्णन में चमत्कार प्रदर्शन किया है, यद्यपि रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने अतिपूर्ण वर्णन नहीं किए। जो उद्दीपन संयोगावस्था में रति उत्पन्न करते हैं वे ही वियोगावस्था में दुःखदायी हो जाते हैं। वर्षा का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

'कूकै लगीं कोइलैं कदम्बन पै बैठि फेरि धोए धोए पात हिलहिल सरसै लगे ।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि देखि कै संजोगी जन हिय हरसै लगे ॥
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी लखि 'हरिचन्द' फेर प्रान तरसै लगे ।
फेरि झूमि झूमि बरषा की ऋतु आई फेरि बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगे ॥

इसी प्रकार नखशिख, हिंडोला, जल-क्रीड़ा, फाग आदि के उदाहरण भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में सुलभ हैं। 'प्रेम-मालिका,' 'प्रेम-फुलवारी,' 'वर्षा-विनोद,' 'मधु-मुकुल,' 'प्रेम-तरंग,' 'प्रेम-प्रलाप,' 'होली' आदि ग्रंथों में उनकी शृंगारपूर्ण रचनाओं के उत्तमोत्तम उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'नायिकाओं के अट्ठाईस सात्विक अलंकार कहे गए हैं, जिनमें भाव, हाव और हेला अंगज कहलाते हैं। शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य अयत्नज इस कारण कहे जाते हैं कि ये आप से-आप उत्पन्न होते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिंचित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित चकित और केलि ये यत्नज अर्थात् साध्य हैं। भाव तो वही है जो प्रत्येक प्राणी में स्थायी रूप से होते हुए भी अवस्था या अवसर प्राप्त होने पर उद्‌बुद्ध हो जाता है। शृंगार रस में यह भाव रति है। यह काम जब विकार नेत्र-चालनादि से व्यक्त हो जाता है तब उसे हाव कहते हैं। जब यह व्यंजना अधिक स्पष्ट हो जाती है तब हेला कहलाती है।

'सिसुताई अजौं न गई तन ते तउ जोबन जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचन्द' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूंघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी॥

'इस छंद में नायिका में यौवन का आगम हो चला है, रतिभाव उद्‌बुद्ध हो गया है और प्रिय की चर्चा सुन कर भौंह मरोरना आदि हाव भी व्यक्त हो रहा है। शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य सभी के होते धैर्य के साथ आँखें बचा बचा कर पति से आँखें लड़ाना प्रगल्भता प्रकट करती है।

'नव कुंजन बैठे पिया नंदलाल जू जानत हैं सब कोक-कला।
दिन मैं तहाँ दूती भुराय कै लाई महाछबिधाम नई अबला॥

जब धाय गही 'हरिचंद' पिया तब बोली अजू तुम मोहि छला।
मोहि लाज लगै बलि पाँव परौं दिन हीं हहा ऐसी न कीजै लला ॥'

'इस पद में कुट्टमित हाव स्पष्ट है। पति के नायिका को अंक में लेने पर वह हाथ छुड़ाकर घबराती हुई सी नहीं नहीं कहने लगती है।' बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा दिए गए इन उदाहरणों के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में लगभग अन्य सभी भेदों के उदाहरण मिलते हैं जिनमें शृंगार और उसके विविध अंगों के अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन हैं।

(३) **प्राचीन परंपरा के अनुसार अन्य रचनाएँ**—गीति शैली की प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने समस्या-पूर्ति में भी अपनी रुचि प्रदर्शित की। समस्या-पूर्ति में रचना चातुर्य और उक्ति-वैचित्र्य को स्थान दिया जाता है। उसमें कवियों को संक्षेप में अपनी सूझ प्रकट कर देनी पड़ती है। समस्या-पूर्ति काव्य-कला के प्राचीन आदर्श के अनुसार है जिसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए प्रतिभा, नैपुण्य, अभ्यास आदि की आवश्यकता पड़ती है और जिससे सुहृद्जनों का मनोविनोद होता है और कवियों में प्रतियोगिता की भावना बढ़ती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आशुकवि तो थे ही। साथ ही उस समय काशी में अनेक प्राचीन कवि और कविसमाज थे। ऐसी परिस्थिति में वे अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय भली भाँति दे सकते थे। उनकी समस्या-पूर्तियों में केवल चमत्कार ही नहीं, वरन् उनके हृदय की सरसता बराबर पाई जाती है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित उनके काव्य-संग्रह में उनकी अनेक समस्या पूर्तियाँ संग्रहीत हैं। एक समस्या है—'पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं':

'यह संग मैं लागियै डोलैं सदा बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो बियोग परै 'हरिचंद' तो चाल प्रलै की सु ठानती हैं ॥

बसनी में थिरैं न झपैं उझपैं पल मैं न समाइबो जानती हैं ॥
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं ॥'

इसी प्रकार समस्या-पूर्ति का एक और उदाहरण यहाँ दिया जाता है। समस्या है—'ग्रीष्मै प्यारे हिमन्त बनाइये' :

'पूरन ब्रह्म समर्थ सबै जिय मैं जोइ आवै सोई दरसाइये ।
फेरिये सूरज चन्द गती छिन मैं जग लाख बनाइ नसाइये ॥
होनी न होनी सबै करिये 'हरिचंद जू' सीस की लीक मिटाइये ।
कीजै हिमन्तहि ग्रीषम भीषम ग्रीषमै प्यारे हिमन्त बनाइये ॥'

समस्या-पूर्ति की भाँति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित मुकरियों में भी परंपरा का पालन हुआ है। अमीर खुसरो ने पहले-पहल मुकरियों की रचना की थी। उनके बाद हिन्दी में मुकरियों को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला प्रतीत नहीं होता। लल्लूलाल द्वारा संग्रहीत 'सभाविलास' में संकलित तथा स्वयं भारतेन्दु के पिता द्वारा रचित मुकरियों के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मुकरियों की रचना कर भावाभिव्यंजना की। उन्होंने अपनी मुकरियों द्वारा राजनीतिक, शासन- संबंधी, शिक्षा-संबंधी आदि समस्याओं पर मार्मिक चोट की है। उन्होंने एक प्राचीन काव्य-रूप के लिए नवीन विषय चुने। 'नये ज़माने की मुकरी' नाम से उनकी मुकरियाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित उनके काव्य-संग्रह में संग्रहीत हैं :

'सब गुरुजन को बुरो बतावै ।
अपनी खिचड़ी अलग पकावै ॥
भीतर तत्व न झूठी तेजी
क्यों सखि सज्जन नहीं अँगरेजी ॥

सुंदर बानी कहि समुझावै ।
बिधवागन सो नेह बढ़ावै ॥

दयानिधान परम गुन-आगर।
सखि सज्जन नहिं विद्यासागर ॥
मुँह जब लागै तब नहिं छूटै।
जाति मान धन सब कुछ लूटै ॥
पागल करि मोहिं करे खराब।
क्यों सखि सज्जन नहीं सराब ॥'

समस्या-पूर्ति और मुकरियों के अतिरिक्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बहुत कुछ मध्ययुगीन परंपरा के अनुसार अन्तर्लापिका, फूल बुझौवल, चतुरंग आदि की रचना भी की जिनसे उनका पाण्डित्य और शब्द-कौशल प्रकट होता है।

२. **नवीनोन्मुखी रचनाएँ**—भारतीय इतिहास के जिस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जन्म ग्रहण किया उसमें देश प्राचीन से नवीन में पदार्पण कर रहा था। वह संधि या संक्रांति काल था। इसलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान जहाँ एक ओर परंपरागत मध्ययुगीन साहित्य की ओर, उसकी भाव-धारा और उपादानों की ओर गया और उन्होंने मौलिक उद्भावनाओं को जन्म दिया, वहाँ देश की नव जागृति, नवीन आकांक्षाओं और नवीन चेतना की ओर भी ध्यान गया और उन्होंने साहित्य को लोक जीवन के समीप लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने अपने देश के जीवन को देखा और समस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के प्राचीन और नवीन रूपों पर गंभीरतापूर्वक विचार कर उसके उज्जवल भविष्य-निर्माण की सतत चेष्टा की। जिस समय उनका ध्यान भारत की तत्कालीन परिस्थिति की ओर जाता था तो उन्हें भारत के प्राचीन गौरव की याद आए बिना न रहती थी। भारत के प्राचीन गौरव और वीर कृत्यों को याद कर उनका देश-प्रेम उमड़ पड़ता था। जो

भारत सारी पृथ्वी का शिरोमणि था, जो लोग किसी समय जगन्मान्य थे, उन्हीं की दुर्दशा देखकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अत्यन्त क्षोभ होता था :

'रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥'...

'भारत-भिक्षा,' 'भारत-वीरत्व' आदि में उन्होंने भारत में चारों ओर छाए हुए अँधियारे का वर्णन किया है और 'वर्षा-विनोद,' 'प्रबोधिनी,' 'मानसोपायन' आदि ग्रंथों में पतन के कारणों में से फूट, विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव, राजनीतिक अस्तव्यस्तता, धार्मिक अनाचार एवं अत्याचार आदि का उल्लेख किया है। मुसलमानी राज्य की अपेक्षा उन्होंने अँगरेज़ी शासन कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा। प्रत्यक्षतः सुख-शान्ति के साथ पाश्चात्य सभ्यता द्वारा प्रदत्त विविध वैज्ञानिक साधनों के सुखोपभोग, वैध शासन, सुन्दर न्याय-पद्धति, नव्य शिक्षा आदि के कारण उन्होंने अँगरेज़ी राज्य के गुण गाए :

'बृटिश सुशासित भूमि में आनन्द उमगे गात'

'भारत-भिक्षा', 'भारत-वीरत्व', 'विजयिनी विजय-पताका या वैजयन्ती', 'श्री राजकुमार-शुभागमन वर्णन', 'मानसोपायन', 'मनोमुकुल माला' आदि में उन्होंने अपने ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं। किन्तु साथ ही उन्होंने वर्ण-भेद, भारतवासियों को शासन-प्रबंध में भाग न मिलने, आर्थिक शोषण, कर, आदि के रूप में बरती गई अहितकारी सरकारी नीतियों का विरोध किया :

'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री।

सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥'

'कल के कल बल छलन सों छले इते के लोग।
नित नित धन सों घटत हैं बाढ़त है दुख सोग॥

कछु तो वेतन में गयो कछुक राज-कर माँहि।
बाकी सब व्यौहार में गयौ रह्यौ कछु नाहिं॥

निरधन दिन दिन होत है भारत भुव सब भाँति।
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुधि-बल कांति॥'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सरकारी निरंकुशता का बराबर विरोध किया और इसीलिए वे सरकार के कोप-भाजन बने। किन्तु जहाँ उन्होंने सरकारी अनीतियों का विरोध किया, वहाँ आलसी, निरुद्यम, कलहप्रिय और पतनोन्मुख देशवासियों को जीवन की चौमुखी उन्नति का संदेश सुनाया। वे चाहते थे कि भारतवासी विद्या, उद्योग-धंधों, राज-नीति, समाज, धर्म सभी क्षेत्रों में उन्नति-पथगामी बनें, वह भी उस समय जब कि वे पश्चिम की एक जीवित जाति के संपर्क में आ चुके थे। सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों और कुप्रथाओं को वे एकदम मिटा देना चाहते थे। किन्तु इस संबंध में वे न तो पश्चिम के अन्धानुकरण के पक्षपाती थे और न परंपरा की अंधभक्ति के। वे परंपरागत सनातन धर्म में ही काल और परिस्थिति के अनुसार सुधार करने के पक्षपाती थे। वे प्राचीन के प्रति मोह करने वाले और नवीनता का दम भरने वाले दोनों प्रकार के उग्रवादियों से सहमत न थे। सच्चे भारतीयत्व और हिन्दू धर्म की पुनर्स्थापना ही उनका मुख्य ध्येय था। हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति की ओर उन्होंने अपने देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया। भारतेन्दु की राष्ट्रीयता का मूलाधार 'हिन्दी भाषा की उन्नति पर व्याख्यान' ही है। जब तक यह व्याख्यान व्यावहारिक रूप

में परिणत न होगा तब तक देश की प्रगति भी न हो सकेगी, क्योंकि भाषा ही सब प्रकार की उन्नति का मूल है। अंत में उनका भारतवासियों के प्रति यही उद्बोधन है कि :

'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल॥

× × ×

'करहु बिलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सब को मूल॥
लहहु आर्य्य भ्राता सबै विद्या बल बुधि ज्ञान।
मेटि परस्पर द्रोह मिलि होहु सबै गुन-खान॥'

× × ×

'लहौ सुख सब विधि भारतवासी।
विद्या कला जगत की सीखौ तजि आलस की फाँसी॥
अपनो देस धरम कुल समुझहु छोड़ि वृत्ति निज दासी।
उद्यम करिकै एकमति निज बल बुद्धि प्रकासी॥
पंचपीर की भगति छाड़ि कै ह्वै हरिचरन उपासी।
जग के और नग्न सम येऊ होउ सबै गुनरासी॥'

भारतेन्दु के अनेक प्रशस्ति-वाक्यों में से एक इस प्रकार है :

'खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइँ, हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर-दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥'

प्रशस्ति वाक्यों और विविध स्थलों पर की गई प्रार्थनाओं का एक-एक शब्द सारगर्भित और भारतेन्दु की हार्दिक आकांक्षाओं का द्योतक है।

रस—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की काव्य-रचनाओं में दो रसों की प्रधानता विशेष रूप से पाई जाती है—शृंगार और शांत। वे ईश्वरानुरागी, धर्मानुरागी, और रसिक व्यक्ति थे। भक्ति के आवेश में उन्होंने प्रेम रस से सराबोर कविताओं की रचना की और राधाकृष्ण की प्रेममयी लीला संबंधी वर्णन प्रस्तुत किए। इस प्रकार की भक्ति-परक रचनाओं में शृंगार रस की निष्पत्ति मिलती है। किन्तु यह शृंगार लौकिक प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी अलौकिक है और वह मीराँ और सूर के शृंगार की कोटि में रखा जा सकता है। इस रस की रचनाओं में सूरदास की रचनाओं का-सा आनद आता है। प्रेममार्ग की स्थापना और प्रेमा-भक्ति की अभिव्यक्ति से उनकी केवल कवित्व शक्ति का परिचय ही प्राप्त नहीं होता, वरन् उनसे जीवों को शुद्ध और पवित्र प्रेममार्ग में प्रवृत्त होने का प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार की रचनाएँ 'प्रेम-माधुरी', 'मधु-मुकुल', 'प्रेम-फुलवारी', 'प्रेम-प्रलाप' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। 'प्रेम-प्रलाप' से एक उदाहरण इस प्रकार है :

'पिय तोहिं राखौंगी हिय में छिपाय।
देखन न दैहौं काहु पियारे रहौंगी कंठ निज लाय॥
पल की ओट होन नहिं दैहौं लूटौंगी सुख-समुदाय।
'हरीचंद' निधरक पीओंगी अधरामृतहि अघाय॥'

'आजु मेरे भोरहि जागे भाग।
आए पिया तिया-रस-भीने खेलत दृग जुग फाग॥
भलौ हमैं भूले तौ नाहीं राख्यौ जिय अनुराग।
साँझ भोर एक ही हमारे तुव आनन की लाग॥
मंगल भयो भोर मुख निरखत मिटे सकल निसि दाग।
'हरीचंद' आओ गर लागो सांचों करौ सोहाग॥'

अलौकिक शृंगार की भाँति भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने रीतिकालीन शैली के अंतर्गत लौकिक शृंगार की रचनाएँ भी कीं जिनमें उनके रसिक

हृदय का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। लौकिक शृंगार-संबंधी रचनाएँ अश्लील न होकर शास्त्रीय परंपरा के अनुसार हैं। उन्होंने ज्ञात-यौवना, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, अभिसारिका, मानिनी, वासकसज्जा, खण्डिता, परकीया आदि अनेक प्रकार की नायिकाओं के वर्णन किए हैं। उनमें शास्त्रीय लक्षणों का रखना आवश्यक था। 'प्रेम-माधुरी' से एक उदाहरण देखिए :

'सिसुताई अजौं न गई तन तें तऊ जोबन-जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचंद' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी॥
बचि सासु जेठानिन सों पिय तें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी॥'

'आई आज कित अकुलाई अलसाई प्रात
रीसै मति पूछे बात रंग कित ढरिगो।
सोने से या गात छ्वै सोनो भयो आप कै वा
आतप प्रभात ही को प्रगट पसरिगो।
'हरीचंद' सौतिन की मुख-दुति छीनी कै वा
आपनो बरन कहुँ पाय धाय ररिगो।
नील पट तेरो आज औरे रंग भयो काहे
मेरे जान बिछुरि पिया तें पीरो परिगो॥'

इसी प्रकार शृङ्गार के विविध अङ्गों को पुष्ट करने वाले अन्य अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में मिलेंगे। आलंबन, उद्दीपन, संचारी, अनुभाव आदि की दृष्टि से ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने शृंगारपूर्ण कविताओं का निर्माण किया। उनकी ऐसी कविताएँ भी हैं जिनमें कोई विशेष शास्त्रीय दृष्टिकोण नहीं रखा गया, वरन् जो सामान्य शृंगार का सुंदर रूप पाठकों के सामने रखती हैं। उदाहरणार्थ :

'आजु कुंज-मंदिर अनंद भरि बैठे श्याम,
श्यामा-संग रंगन उमंग अनुरागे हैं।
घन घहरात बरसात होत जात ज्यौं ज्यौं,
त्यौंही त्यौं अधिक दोऊ प्रेम-पुंज पागे हैं।
'हरीचंद' अलकैं कपोल पैं सिमिट रहीं,
बारि बुंद चूअत अतिहि नीके लागे हैं।
भींजि भींजि लपट लपट सतराइ दोऊ,
नील पीत मिलि भए एकै रंग बागे हैं॥'

शृंगार के अन्य अनेक सुन्दर उदाहरण 'चन्द्रावली' में मिलते हैं। शृंगार के अंतर्गत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वियोग और शृंगार दोनों का और पूर्वानुराग, प्रवास, मान, विरह की दशाओं, श्रवण-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, आदि का वर्णन किया है। विरह का वर्णन करते हुए उनका कहना है :

'हे हरि जू बिछुरे तुम्हरे नहिं धारि सकी सो कोऊ बिधि धीरहिं।
आखिर प्रान तजे दुख सों न सम्हारि सकी वा बियोग की पीरहिं॥
पै 'हरिचंद' महा कलकानि कहानी सुनाऊँ कहा बलबीरहि।
जानि महा गुन रूप की रासि न प्रान तज्यो चहैं वाके सरीरहिं॥'

संयोग शृंगार का उदाहरण निम्नलिखित है :

'आजु कुंज मंदिर मैं छके रंग दोऊ बैठे,
केलि करैं लाज छोड़ि रंग सों जहकि जहकि।
सखीजन कहत कहानी 'हरिचंद' तहाँ,
नेह भरी केकी कीर पिक सी चहकि चहकि।
एक टक बदन निहारैं बलिहार लै लै,
गाढ़े भुज भरि लेत नेह सों लहकि लहकि,
गरें लपटाय प्यारी बार बार चूमि मुख,
प्रेम भरी बातैं करैं मद सों बहकि बहकि॥'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वैसे तो प्रकृति का वर्णन बहुत अधिक नहीं किया, किन्तु जहाँ किया भी है वहाँ शृंगार के अंतर्गत उद्दीपन की दृष्टि से किया है। 'चन्द्रावली' में यमुना और वर्षा के वर्णन ऐसे ही हैं। काव्य-ग्रंथों में भी प्रकृति-वर्णन ब्रजभाषा काव्य-परंपरा के अनुसार हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने वसंत, हेमंत, वर्षा आदि के वर्णन किए हैं, किन्तु कम। 'वर्षा-विनोद' में वर्षा का उद्दीपन रूप मिलेगा। 'प्रेम-माधुरी' से वर्षा का एक उदाहरण इस प्रकार है :

'कूकै लगीं कोइलैं कदंबन पै बैठि फेरि
　　　धोए धोए पात हिलि-हिलि सरसै लगे।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचै फेरि
　　　देखि कै सँजोगी जन हिय हरसै लगे।
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी
　　　लखि हरिचंद फेर प्रान तरसै लगै।
फेरि झूमि झूमि बरषा की रितु आई फेरि
　　　बादर निगोरे झुकि झुकि बरसै लगे॥'

वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की शृंगार रस की कविताएँ अत्यन्त सरल किन्तु रसपूर्ण और हृदयस्पर्शी हैं। इसीलिए उनके जीवन-काल में ही उनकी कविताओं का जनसाधारण तक में प्रचार हो गया था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शृंगार के अतिरिक्त दूसरा प्रधान रस शांत है जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में मिलता है। उन्होंने इस रस का परिपाक भी पूर्णरूपेण किया है और वह उनकी ऐसी भक्ति-परक कविताओं में मिलता है जिनमें ईश्वरानुराग, धर्मानुराग, आत्म-ग्लानि आदि का प्रकटीकरण हुआ है। यथा :

'बृज के लता पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै॥

आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह बर 'हरिचंद' को दीजै ॥'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी' आदि नाटकों में अन्य रसों के सिवा वीभत्स, अद्भुत, भयानक, रौद्र आदि रस भी मिल जाते हैं। किन्तु काव्य-रचनाओं में शृंगार और शांत के बाद हास्य और वीर का स्थान है और वह भी एक प्रकार से नवीनोन्मुखी रचनाओं में। 'बकरी-विलाप' और 'बंदर सभा' जैसी रचनाएँ हास्य रसात्मक हैं। वीर के अंतर्गत युद्धवीर या कर्मवीर का उल्लेख अधिक मिलता है। 'विजयिनी-विजय-वैजयन्ती' से कुछ वीर रसात्मक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

'अरे बीर इक बेर उठहु सब फिर कित सोए।
लेहु करन करवाल काढ़ि रन-रंग समोए ॥
चलहु बीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रन-रंग जमाओ ॥
परिकर कटि कसि उठौ बँदूकन भरि भरि साधौ।
सजौ जुद्ध-बानो सब ही रन-कंकन बाँधो ॥
का अरबी को बेग कहा वाको बल भारी।
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी ॥'...

उत्साह स्थायी भाव है। नवीनोन्मुखी रचनाओं में जहाँ कवि ने भारत की दीन-हीन पतित अवस्था का शोकाश्रु-पूर्ण वर्णन किया है वहाँ करुण रस की निष्पत्ति पाई जाती है।

अलंकार—जिस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य-रचना प्रारंभ की थी उस समय सेवक, 'द्विजदेव' आदि कुछ कवियों को छोड़ कर अन्य कवियों की रचनाओं में साहित्यिक सौष्ठव बहुत कम रह गया था। शताब्दियों से जिस विषय में बड़े कवियों ने अलंकार और रस-निरूपण किया था उसमें अब के कवियों के लिए कोई गुंजायश न रह गई थी।

काव्य-रचनाओं में नीरस उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता हो चली थी। अलंकार ठूँस ठूँस कर भरने के कारण काव्य में अस्वाभाविकता और कृत्रिमता आ गई थी। मुख्य विषय उनमें दब गया है। वर्ण्य विषय का असली रूप सामने न आकर कोई दूसरा रूप सामने आता है। उनमें यमक, श्लेष, उपमा और अनुप्रास आदि का अत्यन्त भद्दा रूप मिलता है। अलंकार-प्रयोग के विषय में शंकरसहाय अग्निहोत्री (१८३५-१६१०) की निम्नलिखित उक्ति थोड़े हेर-फेर के साथ स्वयं कविता के संबंध में लागू हो सकती है :

'प्रबाल से पाँय चुनी-से लला नख दंत दिपैं मुकतान समान;
प्रभा पुखराज-सी अंगनि मैं बिलसैं कच नीलम से दुतिमान।
कहै कवि संकर मानिक से अधरारुन हीरक-सी मुसकान ;
विभूषन पन्नन के पहिरे बनिता बनी जौहरी की सी दुकान।'

किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अलंकारों के भार से दबी हुई कविता को उस भार से मुक्त कर उसकी उसके नैसर्गिक रूप में स्थापना की। उन्होंने भाव को महत्त्व दिया, न कि वाह्याडंबर और शाब्दिक चमत्कार को। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविता-कामिनी को निरलंकृत रखा। वस्तुतः उन्होंने अलंकारों और भावों का सुंदर समन्वय उपस्थित किया। अलंकारों का प्रयोग हुआ अवश्य है, किन्तु प्रधानता रसात्मकता को मिली है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे रसिक व्यक्ति के लिए अलंकारों के चमत्कार तक सीमित रह जाना संभव न था। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों में से उनके भक्तिपरक काव्य में अर्थालंकारों की प्रधानता है। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा उनके सब से अधिक प्रिय अलंकार प्रतीत होते हैं। वैसे अनुप्रास, उदाहरण, सन्देह, अतिशयोक्ति, लोकोक्ति, दृष्टान्त, परिकर, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिंदा आदि अलंकारों का प्रयोग भी पाया जाता है। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि का प्रयोग रीति शैली की

कविताओं में अधिक पाया जाता है। प्रकृति-वर्णनों में उनकी रुचि उपमान प्रस्तुत करने की ओर विशेष रूप से लक्षित होती है। इस प्रकार के उदाहरण उनके नाटकों में दिए गए प्रकृति-वर्णनों में भी पाए जाते हैं। उनमें, विशेषतः 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चंद्रावली' में, सांगरूपक के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। 'प्रेम-माधुरी' नामक काव्य-ग्रंथ से परिकर का एक उदाहरण इस प्रकार है :

'लै मन फेरिबो जानौ नहीं बलि नेह निबाह कियो नहिं आवत।
हेरि कै फेरि मुखै 'हरिचंद जू' देखनहू को हमैं तरसावत।
प्रीत-पपीहन कों घन-साँवरे पानिप-रूप कबौं न पिआवत।
जानौ न नेक बिथा पर की बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत।'

एक उदाहरण रूपकालंकार का देखिए :

'नैन लाल कुसुम पलास से रहे हैं फूलि
फूल-माल गरें बन झालरि सी लाई है।
भँवर गुँजार हरि-नाम को उचार तिमि
कोकिला सों कुहुकि बियोग राग गाई है।
'हरीचंद' तजि पतझार घर-बार सबै
बौरी बनि दौरि चारु पौन ऐसी धाई है।
तेरे बिछुरे ते प्रान कंत कै हिमंत अंत
तेरी प्रेम-जोगिनी बसंत बनि आई है॥'

निम्नलिखित कवित्त संदेह का उदाहरण है :

'चन्दन की डारन मैं कुसुमित लता कैधौं
पोखराज माखन मैं नव-रत्न जाल है।
चन्द्र की मरीचिन मैं इन्द्र-धनु सोहै कै
कनक जुग कामी मधि रसन रसाल है॥
'हरीचंद' जुगुल मृनाल मैं कुमुद बेलि
मूँगा की छरी मैं हार गूथ्यौ हरि लाल है।

कैधौं जुग हंस एकै मुक्त-माल लीने कै
सिया जू करन माँह चारु जयमाल है ॥'

छंद—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का छंद-चयन अधिकांश में परंपरानुसार है। किन्तु वे परंपरा तक ही अपने को सीमित नहीं रख सके। उन्होंने संस्कृत के वसंततिलका, शार्दूलविक्रीड़ित, शालिनी और अनुष्टुप् छंदों का प्रयोग किया है। 'संस्कृत लावनी' और 'श्रीसीतावल्लभ स्तोत्र' में उन्होंने क्रमशः लावनी और दोहों तक का संस्कृत में व्यवहार किया है। संगीत में अधिक रुचि होने के कारण उन्होंने मात्रिक छंदों—दोहा (१३।११), चौपाई, सार (१६।१२ सम), विष्णु पद (१६। १०), चौपई (१५ ऽ।), सरसी, छप्पय (रोला और उल्लाला), रोला, सोरठा (११।१३), कुंडलिया (दोहा और रोला), सरसी (१६। ११ ऽ।), ताटंक (१४।१२ सम), सवाई (१६।१६ सम), गीता (१६।१४ ऽ।) आदि—का प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने कजली, लावनी, विरहा, मलार, रेख़ता, मुकरी, चैती आदि छंद-बंदों का व्यवहार कर कविता का जनता से संबंध स्थापित किया। रेख़ता और ग़ज़ल लिखने वालों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अच्छा स्थान है। उन्होंने उर्दू के विभिन्न मात्राओं वाले छंद भी ग्रहण किए। रसात्मकता, भावुकता, मुहावरेदानी, उक्ति-चमत्कार, रूप-वर्णन, भाव-वर्णन आदि की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की लावनियाँ बहुत सुंदर बन पड़ी हैं। 'प्रेम-मालिका', 'प्रेम-प्रलाप', 'होली', 'प्रेमाश्रु-वर्णन' आदि में १२ मात्राओं के दोहों, झूलना, प्लवंगम, राधिका, शृंगार, विजया आदि के उदाहरण भी मिल जाते हैं। 'गीतगोविन्दानन्द' में सार तथा संस्कृत के अन्य मात्रिक गीत छंद हैं। वर्णिक छंदों में कवित्त, रूप-घनाक्षरी और सवैया (दुर्मिल, किरीट, अरसात, मत्तगयंद) के नाम उल्लेखनीय हैं। 'प्रात समीरन' में बँगला के 'पयार' (८ । ६) नामक वर्णिक छंद का प्रयोग हुआ है। भक्त कवियों की शैली में उन्होंने भक्ति-संबंधी भाव पदों के माध्यम द्वारा भी प्रकट किए हैं। 'प्रेम-मालिका,'

'प्रेम-तरंग,' 'मधु-मुकुल,' 'होली,' 'वर्षा-विनोद' आदि में उन्होंने अपने अनेक पद विभिन्न राग-रागनियों में बाँधे हैं जिससे काव्य-कला के साथ-साथ उनका संगीत के प्रति भी अनुराग प्रकट होता है। पदों में प्रायः विष्णुपद (१६।१०), सवाई (१६।१६ सम), सार (१६।१२ सम), सरसी (१६।११ ऽ।), ताटंक (१६।१४ सम), वीर (१६।१५ ऽ।) आदि छंदों का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त बँगला, पंजाबी, राजस्थानी आदि भाषाओं की कविताओं में उन्हीं भाषाओं के छंद व्यवहार में लाए गए हैं। इस प्रकार भारतेन्दु ने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, बँगला तथा अन्य भारतीय भाषाओं और जनता में प्रचलित छंदों के प्रयोग में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की। इस संबंध में उनके नवीन प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं। एक ही कवि की रचनाओं में इतनी विस्तृत और विविध छन्द-प्रणाली ज़रा कम देखने को मिलती है।

× × ×

आचार्यों ने काव्य को कई सिद्धान्तों के आधार पर दृश्य, श्रव्य, वर्णनात्मक, प्रबन्धात्मक, मुक्तक आदि प्रकारों में विभक्त किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काव्य-ग्रंथों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनका लगभग समूचा काव्य मुक्तक के अंतर्गत आता है। प्रबन्ध काव्यों का तो उन्होंने एक प्रकार से निर्माण ही नहीं किया। उन्होंने संस्कृत की स्तोत्र शैली ग्रहण की। उनकी नवीनोन्मुखी काव्य-रचनाएँ प्रबंधात्मक या कथात्मक और मुक्तक दोनों प्रकारों के अंतर्गत आती हैं। यह प्रबन्धात्मकता घटनावली के स्थान पर विचारावली की दृष्टि से है। अर्थ शक्तियों की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का काव्य—प्रधानतः मध्ययुगीन—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना तीनों से परिपुष्ट तथा प्रसाद गुण-संयुक्त है। उसमें अनेक स्थानों पर हमें सरसता, अर्थ-गौरव, लालित्य आदि बातें कूट-कूट कर भरी गईं मिलती हैं। उसमें सुंदर और मनोरंजक भाव हैं, चित्ताकर्षक कल्पना है, हृदय की गूढ़ वृत्तियों का समावेश ही नहीं वरन् चारु चित्रण है और अभिव्यंजना-शैली में

सजीवता है। भावपक्ष और कलापक्ष के बीच संतुलन, जीवन की सच्ची भावुकता, कला और हृदय की सरलता एवं सचाई, आडंबर-हीनता, युग की अनुभूतियों का प्रकृत रूप, कुछ हद तक प्रचारात्मकता, रसात्मकता, तन्मयता, सार्थकता, स्वाभाविकता आदि लक्षणों के कारण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का काव्य निश्चित रूप से सत्काव्य की कोटि में रखा जा सकता है। उन्होंने अपने समय की काव्य-शैलियों का ही निर्वाह नहीं किया, वरन् प्राचीन काव्य-शैलियों का भी अत्यन्त सफलतापूर्वक पालन किया है। जयदेव ('गीतगोविन्दानंद'), कबीर, नाभादास, सूर, मीराँ, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, रसखान, सेनापति, घनानंद, बोधा, ठाकुर, मतिराम, पद्माकर, कविन्द आदि की काव्य-शैलियाँ उनकी रचनाओं में मिलती हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं से भरपूर लाभ उठाया। भाव-साम्य ही नहीं, वरन् अनेक स्थलों पर तो शब्दावली तक में साम्य है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में मौलिकता का अभाव था और उनका काव्य केवल अनुकरण मात्र है। 'हम सोवत हैं पिय-अंक निसंक चवाइनै आओ चवाव करौ' जैसी पंक्तियों में उनकी स्वछंदता पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित है। प्राचीन और नवीन के संधिकालीन कवि होने के कारण वे हिन्दी साहित्य की सभी विभूतियाँ अपने में समेटे हुए थे। स्वयं पिछले युग की सृष्टि होते हुए भी वे नवीन युग के स्रष्टा थे। उनकी काव्य-रचना में स्वच्छन्दतावाद का प्रारंभिक रूप मिलता है। दो युगों की शैलियाँ उनमें आकर मिल गई थीं। उनकी दृष्टि दो कालों की ओर थी, एक प्राचीन की ओर दूसरी नवीन की ओर। दोनों में सामंजस्य उपस्थित कर वे अपने युग के साकार प्रतीक बने। उनमें उनके युग की आत्मा ध्वनित हो उठी। इसी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की महानता है।

भाषा

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का जहाँ अन्य अनेक दृष्टियों से महत्व है वहाँ भाषा की दृष्टि से भी यह शताब्दी विशेष

रूप से उल्लेखनीय है। क्योंकि इसी शताब्दी में खड़ीबोली का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है और इसी शताब्दी में खड़ीबोली ने साहित्य में—पहले गद्य और फिर काव्य-क्षेत्र में—पदार्पण किया। राजस्थानी और ब्रजभाषा गद्य-परम्पराओं का अन्त हो जाने के बाद ऐतिहासिक कारणों और नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों का आश्रय प्राप्त कर उसका अभूतपूर्व और तीव्र गति के साथ विकास हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में खड़ीबोली गद्य में अनेक पुस्तकों का निर्माण हुआ। केवल इतना ही नहीं, वरन् जब हम उन पुस्तकों के विषय-विस्तार की ओर ध्यान देते हैं तो यह देख कर आश्चर्य होता है कि खड़ीबोली ने अपने बाल्य काल में इतनी अधिक शक्ति और अपने उज्जवल भविष्य का परिचय दिया। संसार के अनेकानेक विषयों के लिए वह माध्यम बनी। काव्य-क्षेत्र में यद्यपि पिछले कवियों ने स्फुट रूप से खड़ीबोली का प्रयोग किया था, तो भी काव्य की प्रधान भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही और आगे चल कर भी वह अपना स्थान अक्षुण्ण बनाए रही।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस समय अपने साहित्यिक जीवन का सूत्रपात किया उस समय गद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली का स्थान निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका था। किन्तु उर्दू और अँगरेज़ों की भाषा-नीति के कारण उसका स्वरूप अब भी विवाद का विषय बना हुआ था। सरकार की शिक्षा-नीति के फल-स्वरूप भी हिन्दी-उर्दू का सङ्घर्ष उठ खड़ा हुआ था। परिणाम यह हुआ कि लोग हिन्दी भाषा और नागरी लिपि भूलते गए। ऐसे समय में ही राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने शिक्षा-विभाग में पदार्पण किया। हिन्दी केवल उस भाषा का नाम रह गया था जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी और केवल हिन्दी जानने वाले गँवार समझे जाते थे। राजा शिवप्रसाद अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग के पक्ष में थे। जन-साधारण से वे 'शिष्ट समुदाय की भाषा' बोलने की आशा करते थे। वास्तव में उनकी दृष्टि खड़ी-बोली के अरबी-फारसीमय रूप अदालती भाषा की ओर थी। वे चाहते थे

कि लोग अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग कर अपनी भाषा पर 'पॉलिश' करें। हिन्दी को 'फैशनेबुल' बनाते-बनाते वे यहाँ तक कह बैठे कि 'Urdu is becoming our mother-tongue'। किन्तु भाषा का यह विदेशी रूप ग्रहण करने के लिए लोग तैयार नहीं थे। लेखकों का एक समुदाय ऐसा भी था जो यदि संस्कृत शब्दावली का प्रयोग नहीं करना चाहता था, तो तत्सम अरबी-फ़ारसी शब्दों का भी वह पक्षपाती नहीं था। मुन्शी देवीप्रसाद मुंसिफ़ और बाबू देवकीनन्दन खत्री ऐसे ही लेखक थे। उन्होंने अत्यन्त सरल भाषा का व्यवहार किया। राजा शिवप्रसाद और देवकीनन्दन खत्री के भाषा-सम्बन्धी विचारों में बहुत कुछ साम्य था, किन्तु व्यावहारिक रूप में देवकीनन्दन खत्री ने उन्हीं अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया जो सूबा हिन्दुस्तान की जनता की भाषा में खप गए थे।

खड़ीबोली गद्य के प्रारम्भिक विकास में यह एक बड़ी दुरूह समस्या खड़ी हो गई थी। राजा शिवप्रसाद के विचारों से हिन्दी के साहित्यिक सहमत नहीं थे। विदेशी शब्दों के प्रयोग से तो किसी को चिढ़ नहीं थी, किन्तु साथ ही वे हिन्दी भाषा का व्यक्तित्व बनाए रखना चाहते थे। राजा शिवप्रसाद की भाषा-नीति की प्रतिक्रिया के रूप में राजा लक्ष्मणसिंह विशुद्ध हिन्दी का आदर्श लेकर आगे बढ़े। वे हिन्दी और उर्दू को दो अलग-अलग भाषाएँ समझते थे और विदेशी शब्दों के पूर्ण वहिष्कार के पक्षपाती थे। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में 'हिन्दीपन' अवश्य बना रहा। किन्तु उनकी भाषा आईन, तर्कशास्त्र अर्थशास्त्र, राजनीति आदि ज्ञान-विज्ञान के उपयुक्त नहीं थी। वास्तव में दोनों राजा अतिपूर्ण दृष्टिकोण लेकर चले और दोनों ही को सफलता प्राप्त न हो सकी।

ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ। भारतेन्दु-साहित्य के विद्यार्थियों को यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जीवन के किसी भी क्षेत्र में अतिवादी नहीं थे। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने समन्वयात्मक

दृष्टिकोण ग्रहण किया। हिन्दी भाषा और साहित्य के उस संक्रान्ति-काल में ऐसे ही व्यक्ति की आवश्यकता भी थी। भाषा के क्षेत्र में भी वे न तो संस्कृत की क्लिष्ट पदावली के प्रयोग के पक्ष में थे और न अप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों के पक्ष में। उन्होंने हिन्दी को स्वाभाविकता उसकी जातीय शैली की रक्षा करने की चेष्टा की। और यह निस्संकोच स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने इस पुनीत कार्य में उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा दिए गए निम्नलिखित अवतरणों से उनकी भाषा-शैली पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है :

१ जिसमें संस्कृत के बहुत शब्द हैं

'अहा ! यह कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा ऋतु साम्प्रत प्राप्त हुई है अनवर्त्त आकाश मेघाच्छन्न रहता है और चतुर्दिक कुझ-झटिका पात से नेत्र की गति स्तंभित हो गई है प्रतिक्षण अभ्र में चंचला पुंश्चली स्त्री की भांति नर्तन करती है और वैसे ही बकावली उड्डीयमाना होकर इतः ततः भ्रमण कर रही है। मयूरादि अनेक पक्षीगण प्रफुल्लित चित्त से रव कर रहे हैं और वैसे ही दर्दरगण पंकाभिषेक करके कुकवियों की भाँति कर्णवेधक टक्का झंकार सा भयानक शब्द करते हैं।'

२ जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं

'सब विदेशी लोग घर फिर आए और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया पुल टूट गए बांध खुल गए पंक से पृथ्वी भर गई पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाए बहुत वृक्ष समेत कूल तोड़ गिराए सर्प बिलों से बाहर निकले महानदियों ने मर्यादा भंग करदी और स्वतंत्रता स्त्रियों की भाँति उमड़ चली।'

३ जो शुद्ध हिन्दी है

'पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत से फंद में पड़ गए कि इधर की

सुध ही भूल गए। कहां (तो) वह प्यार की बातें कहां एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मैं कहां जाऊं कैसी करूं मेरी तो ऐसी कोई मुंह बोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ कुछ इधर उधर की बातों ही से जी बहलाऊं।'

अंत में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा है :

'हम इस स्थान पर बाद नहीं किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिए पर हां मुझसे कोई अनुमति पूछे तो मैं यह कहूँगा कि नम्बर २ और ३ लिखने के योग्य हैं।'

वास्तव में तीसरे अवतरण की शैली ही हिन्दी की जातीय शैली है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने गद्य की भाषा का यही स्वरूप ग्रहण किया। और यद्यपि उनकी गद्य-रचनाओं में ऐसे अंश भी मिल जाते हैं जो संस्कृत के कठिन शब्दों से समन्वित हैं, किन्तु सामान्यतः उन्होंने अनलंकृत और संस्कृत की कोमलकान्त पदावली से मुक्त प्रसाद गुणपूर्ण भाषा ग्रहण की है। उसमें उन्होंने तद्भव और देशज शब्दों तथा कहावतों और मुहावरों और संस्कृत के केवल सरल, सुबोध और लोक-प्रचलित शब्दों के प्रयोग की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने उन्हीं विदेशी शब्दों का प्रयोग किया जो जनसाधारण में सरलता पूर्वक समझे जा सकते थे, और जो भाषा के अङ्ग बन गए थे। 'नीलदेवी' में उन्होंने कठिन उर्दू शब्दों का भी प्रयोग किया है। किन्तु उसमें मुसलमान पात्रों के होने से ऐसा हुआ है। उनके कुछ लेखों, जैसे 'खुशी,' में भी उर्दू-मिश्रित पदावली का प्रयोग हुआ है। अन्यथा उनकी ऐतिहासिक और नाट्य तथा अन्य सभी प्रकार की गद्य-कृतियों में भाषा का वही रूप प्रयुक्त हुआ है जो उन्होंने उपर्युक्त दो अवतरणों द्वारा निर्धारित कर दिया था। इस दृष्टि से उनकी 'चन्द्रावली' नाटिका की भाषा उनकी भाषा-शैली का सर्वोत्तम उदाहरण है। जहाँ भारतेन्दु को चोट करनी होती थी

वहाँ वे कहावतों और मुहावरों का विशेष रूप से प्रयोग करते थे। 'चद्रावली' में चन्द्रावली का उलाहना, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अन्धेर नगरी' इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'भारत-दुर्दशा' भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है। अनेक गम्भीर भाव और विचार उन्होंने अपेक्षाकृत सरल भाषा में प्रकट किए हैं। जहाँ वे किसी समस्या पर विचार करते अथवा किसी तात्विक विवेचन में संलग्न होते हैं अथवा क्षोभपूर्ण उदगार प्रकट करते हैं, वहाँ उनकी भाषा संयत और गम्भीर अवश्य हो जाती है, किन्तु कुछ अपवाद छोड़ कर, संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से वह सर्वथा मुक्त रहती है। उनकी भाषा भावानुकूल, विषयानुकूल, पात्रानुकूल (जैसे, 'नीलदेवी' में मुसलमान पात्र उर्दू का प्रयोग करते हैं, 'भारतदुर्दशा' में बंगाली 'बंगाली हिन्दी' का) और परिस्थिति के अनुकूल रहती है। 'चन्द्रावली, 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। 'चन्द्रावली' नाटिका में स्त्रियों की विविध मानसिक परिस्थितियों के अनुकूल भाषा की विविधता भी ध्यान देने योग्य है। भारतेन्दु ने, जहाँ तक हो सका है,कर्णकटु शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर किया है। भावावेगपूर्ण स्थलों की भाषा की विदग्धता सराहनीय है। उनकी भाषा में एक अद्भुत माधुर्य है जो उनके समकालीन लेखकों की भाषा में बहुत कम दिखाई पड़ता है। कवि होने से नाते उनकी भाषा शैली में यथास्थान कवित्व के दर्शन भी हो जाते हैं। उस समय उनकी भाषा रसपूर्ण हो जाती है और वह पाठकों का अन्तरतम स्पर्श करने लगती है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' में हर्ष, शोक, आदि की अभिव्यक्ति के लिए तदनुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। साथ ही उनकी भाषा में चित्र प्रस्तुत करने की अद्भुत शक्ति है। एक के उदाहरण यदि 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली' में मिलेंगे, तो दूसरे के उदाहरण 'भारतदुर्दशा' में। कहीं-कहीं तुकान्त-युक्त भाषा का

प्रयोग भी मिल जाता है, जैसे, 'क्यों बे कस्साई, मशक ऐसी क्यों बनाई कि दीवार लगाई, बकरी दबाई?' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी गद्य-रचनाओं में सरल-सुबोध भाषा का प्रयोग किया है जो अनेक गुणों से मंडित है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रभाव से लोगों का संस्कृत शब्दों के अत्यधिक प्रयोग की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा निर्धारित रूप ही अधिक ग्राह्य हुआ। यद्यपि 'नासिका रन्ध्र स्फीत हो रहा है' जैसी भाषा लिखने वाले भी उस समय मौजूद थे, तो भी अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी हिन्दी के साहित्यिकों ने भारतेन्दु का नेतृत्व ही ग्रहण किया। आगे चलकर आर्य समाज और बँगला से किए गए अनुवादों के प्रभावान्तर्गत अनावश्यक संस्कृत शब्दों का बाहुल्य खड़ीबोली गद्य के स्वाभाविक विकास के लिए हितकर सिद्ध नहीं हुआ।

स्वयं भारतेन्दु ने 'काश्मीर कुसुम', 'महाराष्ट्र देश का इतिहास', 'रामायण का समय', 'अग्रवालों की उत्पत्ति', 'खत्रियों की उत्पत्ति', 'बादशाह दर्पण', 'बूँदी का राजवंश', 'उदयपुरोदय', 'पुरावृत्त-संग्रह', 'चरितावली', 'पंच पवित्रात्मा', 'दिल्ली दरबार दर्पण', 'काल-चक्र' आदि विविध विषय-संबंधी गद्य-ग्रंथों और 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चंद्रावली', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी' आदि विभिन्न नाट्य-ग्रंथों और अपने समाचार-पत्रों में, संक्षेप में सर्वत्र, अपने भाषा-संबंधी आदर्श का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। कुछ उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। 'रामायण का समय' शीर्षक रचना की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है :

'हिन्दुस्तान के बहुत से पंडितों का निश्चय है कि शिंशिपा शीशम वृक्ष को कहते हैं। किन्तु हमारी बुद्धि में शिंशिपा सीताफल अर्थात् शरीफ़े के वृक्ष को कहते हैं। इसके दो बड़े भारी सबूत हैं।

प्रथम तो यह कि यदि जानकी जी से शरीफ़े से कुछ संबंध नहीं तो सारा हिन्दुस्तान उस को सीताफल क्यों कहता है। दूसरे यह कि महाभारत के आदि पर्व में राजा जनमेजय की सर्पयज्ञ की कथा में एक श्लोक है जिसका अर्थ यह है कि आस्तिक की दोहाई सुनकर जो सांप न हट जायगा उसका सिर शिश वृक्ष के फल की तरह सौ टुकड़े हो जायगा ...'

'चंद्रावली' की भाषा का रूप भी इस प्रकार है :

'...आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते, और उस पर तुर्रा यह है कि किसी को चाहे कितना भी दुखी देखें आपको कुछ घृणा तो आती ही नहीं। हाय-हाय ! कैसे-कैसे दुःखी लोग हैं—और मजा तो यह है कि सब धान बाइस पसेरी। चाहे आपके वास्ते दुखी हो, चाहे अपने संसार के दुःख से ; आपको दोनों उल्लू फँसे हैं। इसी से तो 'निर्दय हृदय कपाट' यह नाम है। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया ? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था ?...'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की अन्य रचनाओं से भी ऐसे ही अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं पर विषय की गंभीरता के अनुसार अथवा केवल भाषा पर अधिकार प्रकट करने की दृष्टि से उनकी भाषा भी गंभीर होकर संस्कृत-गर्भित हो जाती है, जैसे :

'परम धार्मिक सुप्रसिद्ध अली मुसलमान धर्म्म के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद के जामाता और शीआ संप्रदाय के पहिले एमाम (आचार्य) थे। हज़रत मुहम्मद के लोकोत्तर गमन पीछे मुसलमान धर्म्म की स्थिति और उन्नति अली के ही ऊपर निर्भर थी। जैसे भक्तिभाजन ईसा को उनके शिष्य जूड़ाने त्रिंशत मुद्रा के लोभ से शत्रु-हस्त में सम्पर्ण (?) करके वध किया था वैसे ही इब्नमुलज़म नामक एक व्यक्ति ने एक दुश्चारिनी नारी के प्रलोभन में उसकी कुमन्त्रना से

स्त्रीय धर्म्माचार्य अली को स्वयं करवालाघात से निहत किया'।
(पंच पवित्रात्मा)

किन्तु भाषा का यह रूप उनके ग्रन्थों में कम मिलता है। ऐसे उदाहरण अपवाद स्वरूप ही माने जाएँगे, न कि उनकी भाषा के आदर्श उदाहरण के रूप में। वास्तव में मातृभाषा-प्रेमी भारतेन्दु ने भाषा को न तो अकारण संस्कृत-गर्भित रूप दिया और न अकारण विदेशी शब्दों की भरमार कर उसे खिचड़ी बनाया। उन्होंने हिन्दी का 'हिन्दीपन' बनाए रख कर उसे शिष्ट और परिमार्जित रूप प्रदान किया। मुहावरों और कहावतों का भी उन्होंने अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया है। क्या ही अच्छा हो यदि खड़ीबोली के आधुनिक कवि और लेखक भारतेन्दु का अनुकरण कर हिन्दी के अक्षय भण्डार को अपनी भाषा में भरने की चेष्टा करें। भारतेन्दु के वाक्य छोटे-छोटे किन्तु भाव और विषय के अनुकूल शब्दावली से समन्वित, और सरल किन्तु मर्मस्पर्शी होते हैं। उनकी भाषा में रस रहता है, जो उनके सरस हृदय और ज़िन्दादिली का द्योतक है।

'चन्द्रावली' में खड़ीबोली और ब्रजभाषा दो भाषाओं का प्रयोग हुआ है। यह अव्यवस्था है, किंतु संभवतः नाटककार ने भावावेश में आकर अपने इष्टदेव के प्रदेश की भाषा का प्रयोग कर दिया हो। ब्रज भाषा के प्रयोग से सरसता तो अनिवार्य रूप से आ ही जाती है।

सामान्य विवरणात्मक शैली के अतिरिक्त भारतेन्दु की शैली, स्थूल और प्रधान रूप से, दो प्रकार की मानी जा सकती है। पहली भाषा-शैली तो विवेचनात्मक है जिसके माध्यम द्वारा उन्होंने गवेषणापूर्ण अथवा सामान्यतः गंभीर विषयों का निरूपण, तथ्यनिरूपण अथवा तर्क-समन्वित विषय-प्रतिपादन किया है। उनके ऐतिहासिक अथवा पुरातत्व-संबंधी ग्रंथों तथा लेखों में इस प्रकार की भाषा-शैली के दर्शन होते हैं। शिशिरा के संबंध में 'रामायण का समय' से एक उदाहरण अभी पहले दिया जा चुका है। 'बूंदी का राजवंश' शीर्षक एक अन्य रचना की भाषा-शैली इस प्रकार है :

'बूंदी का राजवंश चौहान क्षत्रियों से है। इस वंश का मूल पुरुष अन्हल चौहान प्रसिद्ध है। भट्ट लोगों के मत से चौहान का नाम चतुर्भुज है। अन्हल अनल शब्द का अपभ्रंश है, क्योंकि अनल अग्नि को कहते हैं और आबू के पहाड़ पर जो चार वंश उत्पन्न किए गए वे अग्नि से उत्पन्न किए गए थे।'

उनकी दूसरे प्रकार की शैली भावावेश पूर्ण है और जिसके उदाहरण हमें उनकी मौलिक नाटकीय कृतियों में मिलते हैं। 'चंद्रावली' तो भावावेशपूर्ण भाषा-शैली में लिखी ही गई है, किंतु अन्य नाटकों में भी इस शैली के उदाहरण बराबर मिलते हैं। 'नीलदेवी' से एक उदाहरण इस प्रकार है :

'हाय! अब भारतवर्ष की कौन गति होगी! अब त्रैलोक्य-ललाम सुता भारत कमलिनी को यह दुष्ट यवन यथा सुख दलन करेंगे। अब स्वाधीनता का सुख हम लोगों में फिर प्रकाश न करेगा। हाय! परमेश्वर तू कहाँ सो रहा है। हाय धार्मिक वीर पुरुष की यह गति!'

'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'भारतदुर्दशा' में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

भावावेशपूर्ण शैली की भाषा पहली शैली की भाषा से अपेक्षाकृत सरल हुई है। किंतु अभिव्यंजना-शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

इन दो प्रधान शैलियों के अतिरिक्त उनकी हास-परिहास पूर्ण व्यंग्यात्मक और कवित्वपूर्ण अथवा आलंकारिक शैलियों के भी दर्शन होते हैं। इन शैलियों के अनेक उदाहरण 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चंद्र', 'चंद्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी' तथा कुछ लेखों आदि में मिलते हैं। पहली प्रकार की शैली में वे कहावतों और मुहावरों का, और कवित्वपूर्ण शैली में अलंकारों और सरस शब्दों

का अधिक प्रयोग करते हैं। कहीं-कहीं पर भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने मुहावरेदार बोलचाल की भाषा में सभाषण शैली का व्यवहार भी किया है। भारतेन्दु की शैलियों के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने एक रचना में समान रूप से एक ही शैली का प्रयोग न कर कई शैलियों का प्रयोग किया है।

भारतेन्दु की भाषा के संबंध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि उन्होंने हिन्दी का शिष्ट और जातीय रूप जनता के सामने रखा, तो भी उनकी भाषा ब्रज और पूर्वी भाषाओं के प्रयोगों तथा यत्र-तत्र व्याकरणसंबंधी अशुद्धियों से रहित नहीं है। वास्तव में भारतेन्दु को इतना अवकाश न मिल सका कि वे भाषा के सुघड़ रूप की ओर अधिक ध्यान दे सकते। वे साहित्य को नवीन-नवीन विषयों की ओर मोड़ने में अधिक प्रवृत्त रहे। तो भी उन्होंने भाषा का जो रूप रखा वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें उसका सारा पिछला इतिहास छिपा हुआ है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य में भी खड़ीबोली का प्रयोग करना चाहा था, और स्वयं कुछ कविताओं की रचना भी की :

'कहाँ हो, ए हमारे राम प्यारे !
किधर तुम छोड़ मुझको सिधारे ?
बुढ़ापे म य' दुख भी देखना था ?
इसी के देखने को मैं बचा था ?'

अथवा,

'फागुन के दिन बीत चले अब ऋतु बसंत आई
बदला समा चली झोंके से झकी पुरवाई।
गर्मी के आगम दिखलाये रात लगी घटने
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने।'

अथवा,

'बादल की पालें, धुएं की जालें,
छोड़े दौड़ा जाता है,

पावस नभ सागर, सब गुन आगर,
जोर जहाज दिखाता है।'

साथ ही उनकी ब्रज-रचनाओं में भी खड़ीबोली के रूप, यहाँ तक कि वाक्यांश भी, बराबर मिलते हैं। किंतु उन्हें खड़ीबोली की कविता भौंड़ी प्रतीत हुई, और प्रायः दीर्घ मात्रा के आ जाने के फलस्वरूप उन्हें वह मधुर भी न लगी। इसलिए कविता की भाषा उन्होंने ब्रजभाषा ही स्वीकार की।*वास्तव में शताब्दियों के प्रयोग से ब्रजभाषा मँज गई थी, उसमें मुहावरेदानी आ गई थी, और प्रत्येक शब्द के साथ एक भाव-परंपरा जुड़ गई थी। वैसे भी इतने दिनों की परंपरा से एकदम विमुख हो जाना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लिए भी एकदम सरल नहीं था। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव भी इतना ज़बरदस्त था कि उनके जीवन-काल में किसी को भी ब्रजभाषा के विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस न हुआ। आगे चल कर खड़ीबोली आंदोलन ने शक्ति ग्रहण की और कुछ कवियों ने काव्य-क्षेत्र में भी खड़ीबोली का प्रवेश करा दिया था। किन्तु बिल्कुल ही खड़ीबोली का कवि तो भारतेन्दु के जीवन-काल में क्या पूरे भारतेन्दु-युग में कोई न हो सका।

अस्तु, भारतेन्दु ने काव्य में ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। यह तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने ब्रजभाषा का कोई नवीन प्रासाद निर्मित नहीं किया था। उन्होंने उसके सहज-सुन्दर रूप का प्रयोग कर फिर से, उसे गौरव प्रदान किया। भारतेन्दु के समय तक आते-आते ब्रजभाषा में अनेक दोष उत्पन्न हो गए थे। उन्होंने उसके प्रकृत सौंदर्य के दर्शन कराए। उन्होंने 'रत्नाकर' की भाँति ब्रजभाषा का 'अध्ययन' न किया था। केवल अपनी प्रतिभा के माध्यम द्वारा वे ब्रजभाषा का परिष्करण और परिमार्जन कर सके थे। भारतेन्दु की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, यद्यपि एकरूपता का उसमें अभाव है। उनके भाव और भाषा दोनों ही सबल हैं। उनकी ब्रजभाषा मानसिक भावों की यथार्थता स्पष्ट कर देती है। भावों के अनुकूल शब्द चुन-चुन कर उन्होंने सुव्यवस्थित पदावली का

निर्माण और भावव्यञ्जक वाक्य-विन्यास प्रस्तुत किया। वाग-वैचित्र्य भी उनकी काव्य-भाषा की एक विशेषता है। भारतेन्दु की प्राचीन शैली की रचनाओं में मध्य युग की श्रेष्ठ रचनाओं का-सा आनन्द आता है। प्राचीन कवियों की-सी रमणीयता के अतिरिक्त नवीन युक्तियों की परिष्कृत अभिव्यक्ति भी उनकी रचनाओं में उपलब्ध होती हैं। उन्होंने अकाव्योपयोगी और दुरूह शब्दों का प्रयोग नहीं किया। कठोर वर्णों का वहिष्कार उन्होंने सर्वत्र किया है। गद्य-भाषा की भाँति उनकी काव्य-भाषा भी सरल है। उनके काव्य में प्रत्येक शब्द की अनिवार्य सत्ता है। प्रत्येक शब्द भाव-पूर्ण, सबल और उपयुक्त है। प्रसाद और माधुर्य दोनों गुण उनके काव्य में सर्वत्र पाए जाते हैं। वास्तव में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि आगे चल कर 'रत्नाकर' जी ने जो पच्चीकारी की उसका पूर्वाभास भारतेन्दु की भाषा में मिलता है। उन्होंने भाषा की नैसर्गिकता का तिरस्कार न किया, ब्रजभाषा का निजपन बनाए रखा। उनकी भाषा में कलात्मकता और चमत्कार भले ही न हो, किन्तु उसमें सौन्दर्य है, रमणीयता है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

भारतेन्दु ने नवीन विषयों के वर्णन के लिए भी ब्रजभाषा ग्रहण की। उनकी अनेक काव्य-रचनाओं द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रजभाषा भी आधुनिकता का साथ देने में समर्थ थी। भारतेन्दु ने अपनी अपूर्व प्रतिभा द्वारा उसके रूप को आधुनिक जीवन का अनुगामी बनाया, और साथ ही उसके पूर्व-संचित सौन्दर्य को बहुत-कुछ सुरक्षित रखा। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग करते हुए ब्रजभाषा की लाक्षणिकता बनाए रखी। यह कोई कम महत्वपूर्ण कार्य नहीं था। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उनकी प्राचीन शैली की ब्रजभाषा कविता की तुलना में नवीन कविता की भाषा में कुछ शिथिलता पाई जाती है। सरल और सर्वप्रचलित विदेशी शब्दों का वहिष्कार उन्होंने काव्य-क्षेत्र में भी नहीं किया।

खड़ी बोली और ब्रजभाषा के अतिरिक्त भारतेन्दु ने उर्दू तथा भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत कीं, किन्तु उनका भारतेन्दु साहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुत दिनों तक जीवित न रह सके। किन्तु जितने दिन वे जीवित रहे सब प्रकार से हिन्दी साहित्य की सेवा करते रहे। उन्होंने अनेक विविध विषय-सम्बधी ग्रंथों की रचना की और यदि एक ओर खड़ीबोली हिन्दी को जातीय रूप दिया, तो दूसरी ओर ब्रजभाषा को उसका नैसर्गिक सौन्दर्य प्रदान किया। इस दृष्टि से वे एक ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध होते हैं।

भारतेन्दु का स्थान

भारतेन्दु-साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी में आधुनिकता के अग्रदूत थे। गद्य के क्षेत्र में यद्यपि उनसे पहले विविध विषय-संबंधी साहित्य का सृजन हो चुका था, किन्तु उसमें ललित साहित्य का प्रणयन भारतेन्दु द्वारा ही हुआ। उन्होंने केवल साहित्य के प्राचीन युगों का ही प्रतिनिधित्व नहीं किया, वरन् नवोत्थानकालीन भारत को स्वर प्रदान किया; उसकी आशाओं तथा आकांक्षाओं की पूर्णरूपेण अभिव्यंजना की। साहित्य को उन्होंने विविध-विषय-संपन्न बनाया। गद्य में खड़ीबोली को प्रोत्साहन दिया और काव्य में ब्रजभाषा का परिष्करण और परिमार्जन किया। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से उन्होंने साहित्य में नवीन युग की अवतारणा कर उसकी अवरुद्ध गति को गतिशीलता प्रदान की। ऐसा करते समय उन्होंने प्राचीन तथा नवीन और पूर्व तथा पश्चिम का समन्वय उपस्थित कर अपनी दूरदर्शिता और चेतना का परिचय दिया। जीवन का कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता न रह सका। वास्तव में अपनी अल्पायु में उन्होंने जो कुछ किया वह उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में अमर रखेगा।

४. संग्रह

[भाषा, भाव, प्रवृति, शैली आदि की दृष्टि से]

'सत्य हरिश्चन्द्र' :

चतुर्थ अंक

स्थान—दक्षिण श्मशान

[नदी, पीपल का बड़ा पेड़, चिता, मुरदे, कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी इत्यादि]

(कंबल ओढ़े और एक मोटा लट्ठ लिए हुए राजा हरिश्चंद्र दिखाई पड़ते हैं)

हरि०—**(लंबी साँस लेकर)** हाय ! अब जन्म भर यही दुख भोगना पड़ेगा ।

जाति दास चंडाल की, घर घनघोर मसान ।
कफन कसोटी का करम, सब ही एक समान ॥

न जानें विधाता का क्रोध इतने पर भी शांत हुआ कि नहीं । बड़ों ने सच कहा है कि दुःख से दुःख जाता है । दक्षिणा का ऋण चुका, तो यह कर्म करना पड़ा । हम क्या सोचें ? अपनी अनाथ प्रजा को, या दीन नातेदारों को, या अशरण नौकरों को, या रोती हुई दासियों को, या सूनी अयोध्या को, या दासी बनी महारानी को, या उस अनजान बालक को, या अपने ही इस चांडालपने को । हा ! बटुक के धक्के से गिरकर रोहिताश्व ने क्रोध-भरी और रानी ने जाते समय करुणा-भरी दृष्टि से जो मेरी ओर देखा था वह अब तक नहीं भूलती । (**घबड़ाकर**) हा देवी ! सूर्यकुल की बहू और चन्द्रकुल की बेटी होकर तुम बेची गई और दासी बनीं । हा ! तुम अपने जिन सुकुमार हाथों से फूल की माला भी नहीं गूँथ सकती थीं उनसे बरतन

कैसे माँजोगी ? (**मोह प्राप्त होने चाहता है पर सम्हलकर**) अथवा क्या हुआ ! यह तो कोई न कहेगा कि हरिश्चन्द्र ने सत्य छोड़ा।

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हूँ मंद।
राख्यो निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद॥

(**आकाश से पुष्पवृष्टि होती है**)

अरे यह असमय में पुष्पवृष्टि कैसी ? किसी पुण्यात्मा का मुरदा आया होगा। तो हम सावधान हो जायँ। (**लट्ठ कंधे पर रखकर फिरता हुआ**) खबरदार ! खबरदार !! बिना हमसे कहे और बिना हमें आधा कफन दिए कोई संस्कार न करे। (**यही कहता हुआ निर्भय मुद्रा से इधर उधर देखता फिरता है। नेपथ्य में कोलाहल सुनकर**) हाय-हाय ! कैसा भयंकर श्मशान है ! दूर से मंडल बाँध-बाँध कर चोंच बाए, डैना फैलाए, कंगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच-नोचकर आपुस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यंत कर्णकटु अमंगल के नगाड़े की भाँति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं। उधर चिरांइन फैलाती हुई चट-चट करती चिताएँ कैसी जल रही हैं, जिनमें कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू व चरबी बहती है। आग का रंग मांस के सबंध से नीला-नीला हो रहा है, ज्वाला घूम-घूम कर निकलती है, आग कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मंद हो जाती है। धुआँ चारों ओर छा रहा है। (**आगे देखकर आदर से**) अहा ! यह बीभत्स व्यापार भी बड़ाई के योग्य है। शव ! तुम धन्य हो कि इन पशुओं के इतने काम आते हो; अतएव कहा है—

"मरनो भलो विदेश को, जहाँ न अपुनो कोय।
माटी खाँय जनावरों, महा महोच्छव होय॥"

अहा ! देखो।

सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहि स्यार अतिहि आनँद उर धारत॥

गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै मांस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि के खान बिचारत॥

बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ़यो सबको हियो।
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो॥

अहा ! शरीर भी कैसी निस्सार वस्तु है !

सोई मुख सोई उदर, सोई कर पद दोय।
भयो आजु कछु और ही, परसत जेहि नहीं कोय॥
हाड़ माँस लाला रकत, बसा तुचा सब सोय।
छिन्न भिन्न दुर्गंध-मय, मरे मनुस के होय॥
कादर जेहि लखि कै डरत, पंडित पावत लाज।
अहो ! व्यर्थ संसार को, विषय बासना साज॥

अहा ! मरना भी क्या वस्तु है।

सोई मुख जेहि चंद बखान्यौ।
सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यौ॥
सोई भुज जो प्रिय गर डारें।
सोई भुज जिन नर बिक्रम पारें॥
सोई पद जिहि सेवक बंदत।
सोई छबि जेहि देखि अनंदत॥
सोइ रसना जहँ अमृत बानी।
जेहि सुन के हिय नारि जुड़ानी॥
सोइ हृदय जहँ भाव अनेका।
सोई सिर जहँ निज बच टेका॥
सोई छबि-मय अंग सुहाए।
आज जीव बिनु धरनि सुहाए॥
कहाँ गई वह सुंदर सोभा।
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा॥

प्रानहुँ ते बढ़ि जा कहँ चाहत।
ता कहँ आजु सबै मिलि दाहत॥
फूल बोझ हू जिन न सहारे।
तिन पै बोझ काठ बहु डारे॥
सिर पीड़ा जिनकी नहिं हेरी।
करत कपाल क्रिया तिनकेरी॥
छिनहूँ जे न भए कहुँ न्यारे।
तेऊ बंधुगन छोड़ि सिधारे॥
जे दृगकोर महीप निहारत।
आजु काक तेहि भोज बिचारत॥
भुजबल जे नहिं भुवन समाए।
ते लखियत मुख कफन छिपाए॥
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे।
गने काल सब एकहि लेखे॥
सुभग कुरूप अमृत विष साने।
आजु सबै इक भाव बिकाने॥
पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं
रहे नाम ही ग्रंथन माँहीं॥

अहा ! देखो वही सिर, जिस पर मंत्र से अभिषेक होता था, कभी नवरत्न का मुकुट रखा जाता था, जिसमें इतना अभिमान था कि इंद्र को भी तुच्छ गिनता था, और जिसमें बड़े-बड़े राज जीतने के मनोरथ भरे थे, आज पिशाचों का गेंद बना है और लोग उसे पैर से छूने में भी घिन करते हैं। (आगे देखकर) अरे यह श्मशान-देवी हैं। अहा ! कात्यायनी को भी कैसा बीभत्स उपचार प्यारा है ! यह देखो, डोम लोगों ने सूखे गले सड़े फूलों की माला गंगा में से पकड़-पकड़कर देवी को पहिना दी है और कफन की पवजा लगा दी है। मरे बैल और भैंसों के गले के घंटे पीपल की डार में लटक रहे हैं, जिनमें लोलक की जगह नली की

हड्डी लगी है घंट के पानी से चारों ओर से देवी का अभिषेक होता है और पेड़ के खंभे में लोहू के थापे लगे हैं। नीचे जो उतारों की बलि दी गई है उसके खाने को कुत्ते और सियार लड़-लड़कर कोलाहल मचा रहे हैं। (हाथ जोड़कर)

"भगवति! चंडि! प्रेते! प्रेतविमाने! लसत्प्रेते। प्रेतास्थिरौद्र रूपे! प्रेताशिनि! भैरवि! नमस्ते।"

(नेपथ्य में)

राजन्! हम केवल चांडालों के प्रणाम के योग्य हैं। तुम्हारे प्रणाम से हमें लज्जा आती है। माँगों क्या वर माँगते हो?

हरि०—(सुनकर आश्चर्य से) भगवति! यदि आप प्रसन्न हैं तो हमारे स्वामी का कल्याण कीजिए।

(नेपथ्य में)

साधु महाराज हरिश्चन्द्र साधु!

हरि०—(ऊपर देखकर) अहा! स्थिरता किसी को भी नहीं है। जो सूर्य उदय होते ही पद्मिनीवल्लभ और लौकिक वैदिक दोनों कर्म का प्रवर्त्तक था, जो दोपहर तक अपना प्रचंड प्रताप क्षण-क्षण बढ़ाता गया जो गगनांगन का दीपक और कालसर्प का शिखामणि था, वह इस समय परकटे गिद्ध की भाँति अपना सब तेज गँवाकर देखो समुद्र में गिरा चाहता है।

अथवा,

साँझ सोई पट लाल कसे कटि सूरज खप्पर हाथ लह्यो है।
पच्छिन के बहु शब्दन के मिस जीअ उचाटन मंत्र कह्यो है॥
मद्य भरी नरखोपरी सो ससि को नव बिंबहू धाइ गह्यो है।
दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल कपालिक नाचि रह्यो है॥
सूरज धूम बिना की चिता सोई अंत में लै जल माँही बहाई।
बोलैं घने तरु बैठि बिहंगम रोअत सो मनु लोग-लोगाई॥

धूम अँधार कपाल निसाकर, हाड़ नछत्र लहू सी ललाई।
आनँद हेतु निशाचर के यह काल मसान सो साँझ बनाई॥

अहा! यह चारों ओर से पक्षी सब कैसा शब्द करते हुए अपने-अपने घोंसलों की ओर चले आते हैं। वर्षा से नदी का भयंकर प्रवाह, साँझ होने से श्मशान के पीपल पर कौओं का एक संग अमंगल शब्द से काँव काँव करना और रात के आगमन से सन्नाटे का समय चित्त में कैसी उदासी और भय उत्पन्न करता है। अंधकार बढ़ता ही जाता है। वर्षा के कारण इन श्मशानवासी मंडूकों का टर-टर करना भी कैसा डरावना मालूम होता है।

रुरुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि के नर-नारी।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी॥
अंधकारबस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूँकि डर पावई।
सँग दादुर झींगुर रुदन-धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई॥

इस समय यह चिता भी कैसी भयंकर मालूम पड़ती है। किसी का सिर चिता के नीचे लटक रहा है, कहीं आँच से हाथ-पैर जलकर गिर पड़े हैं, कहीं शरीर आधा जला है, कहीं बिलकुल कच्चा है, किसी को वैसे ही पानी में बहा दिया है, किसी को किनारे ही छोड़ दिया है, किसी का मुँह जल जाने से दाँत निकला हुआ भयंकर हो रहा है और कोई आग में ऐसा जल गया है कि कहीं पता भी नहीं है। वाह रे शरीर तेरी क्या क्या गति होती है!!! सचमुच मरने पर इस शरीर को चटपट जला ही देना योग्य है, क्योंकि ऐसे रूप और गुण जिस शरीर में थे उसको कीड़ों वा मछलियों से नुचवाना और सड़ाकर दुर्गंधमय करना बहुत ही बुरा है। न कुछ शेष रहेगा न दुर्गति होगी। हा! चलो आगे चलें। (ख़बरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर घूमता है)

(पिशाच और डाकिनीगण परस्पर आमोद करते और गाते-बजाते हुए आते हैं)

पि० और डा०—हैं भूत प्रेत हम, डाइन हैं छमाछम,
हम सेवैं मसान शिव को भजैं बोलैं बम बम बम।

पि०—हम कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ैंगे।
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सबका फोड़ेंगे।

डा०—हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेंगी॥
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावेंगी।

सब—हम नाचें मिलकर थेई थेई थेई थेई कूदें धम् धम् धम्। हैं भूत०-

पि०—हम काट काट कर शिर को गेंदा उछालेंगे।
हम खींच खींच कर चरबी पंशाखा बालेंगे॥

डा०—हम माँग में लाल-लाल लोहू का सेंदुर लगावेंगी।
हम नस के तागे चमड़े का लहँगा बनावेंगी॥

सब—हम धज से सज के बज के चलेंगे चमकेंगे चम चम चम।

पि०—लोहू का मुँह से फर्र फर्र फुहारा छोड़ेंगे।
माला गले पहिरने को अँतड़ी को जोडेंगे॥

डा०—हम लाद के औंधे मुरदे चौकी बनावेंगी।
कफन बिछा के लड़कों को उस पर सुलावेंगी॥

सब—हम सुख से गावेंगे ढोल बजावेंगे ढम ढम ढम ढम ढम।

(वैसे ही कूदते हुए एक ओर चले जाते हैं)

हरि०—(कौतुक से देखकर) पिशाचों की क्रीड़ा कुतूहल भी देखने के योग्य है। अहा! यह कैसे काले-काले झाड़ू से सिर के बाल खड़े किए लंबे-लंबे हाथ-पैर विकराल दाँत लंबी जीभ निकाले इधर-उधर दौड़ते और परस्पर किलकारी मारते हैं मानों भयानक रस की सेना मूर्तिमान होकर यहाँ स्वच्छंद विहार कर रही है। हाय-हाय! इन खेल और

सहज व्यौहार भी कैसा भयंकर है। कोई कटाकट हड्डी चबा रहा है, खोपड़ियों में लहू भर-भर करके पीता है, कोई सिर का गेंद बनाकर खेलता है, कोई अँतड़ी निकाल गले में डाले है और चंदन की भाँति चरबी और लहू शरीर में पोत रहा है, एक दूसरे से मांस छीनकर ले भागता है, एक जलता मांस मारे तृष्णा के मुँह में रख लेता है, पर जब गरम मालूम पड़ता है तो थू थू करके थूक देता है, और दूसरा उसी को फिर झट से खा जाता है। हा! देखो यह चुड़ैल एक स्त्री की नाक नथ समेत नोच लाई है, जिसे देखने को चारों ओर से सब भुतने एकत्र हो रहे हैं और सभों को इसका बड़ा कौतुक हो गया है। हँसी में परस्पर लोहू का कुल्ला करते हैं और जलती लकड़ी और मुरदों के अगों से लड़ते हैं और उनको ले-लेकर नाचते हैं। यदि तनिक भी क्रोध में आते हैं तो श्मशान के कुत्तों को पकड़-पकड़कर खा जाते हैं। अहा! भगवान् भूतनाथ ने बड़े कठिन स्थान पर योगसाधन किया है। (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिरता है। ऊपर देखकर) आधी रात हो गई, वर्षा के कारण अँधेरी बहुत ही छा रही है, हाथ से हाथ नहीं सूझता! चांडाल कुल की भाँति श्मशान पर तम का भी आज राज हो रहा है। (स्मरण करके) हा! इस दुःख की दशा में भी प्रिया हमसे अलग पड़ी है। कैसी भी हीन अवस्था हो, पर अपना प्यारा जो पास रहे तो कुछ कष्ट नहीं मालूम पड़ता। सच है—

"टूट ठाट घर टपकत खटियौ टूट।
पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूट॥"

बिधना ने इस दुःख पर भी वियोग दिया। हा! यह वर्षा और यह दुःख! हरिश्चन्द्र का तो ऐसा कठिन कलेजा है कि सब सहेगा, पर जिसने सपने में भी दुःख नहीं देखा वह महारानी किस दशा में होगी। हा देवि! धीरज धरो, धीरज धरो! तुमने ऐसे ही भाग्यहीन से स्नेह किया है जिसके साथ सदा दुःख ही दुःख है। (ऊपर देखकर) पानी बरसने

लगा। अरे! (धोधी भली भाँति ओढ़कर) हमको तो यह वर्षा और श्मशान दोनों एक ही से दिखाई पड़ते हैं। देखो—

चपला की चमक चहूँघा सों लगाई चिता
चिनगी चिलक पटबीजना चलायो है।
हेती बगमाल स्याम बादर सु भूमि कारी
बीरबधू लहूबूँद भुव लपटायो है॥
हरीचंद नीर-धार आँसू सी परत जहाँ
दादुर को सोर रोर दुखिन मचायो है।
दाहन बियोग दुखियान को मरे हूँ यह
देखो पापी पावस मसान बनि आयो है॥

(कुछ देर तक चुप रहकर) कौन है? (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर-उधर फिर कर)

इंद्र काल हू सरिस जो, आयसु लांघै कोय।
यह प्रचंड भुजदंड मम, प्रतिभट ताको होय॥

अरे कोई नहीं बोलता। (कुछ आगे बढ़कर) कौन है?...

'चन्द्रावली' :

तीसरा अंक

चंद्रा०—(आप ही आप) हाय! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ? प्यारे, यह संयोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जायँगी। हाय नाथ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ! प्यारे, रात छोटी है और स्वाँग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय! मुझ सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात-दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछनेवाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर ही

की बात देखते हैं। हाय ! मैं तो अपने-पराए सब से बुरी बनकर बेकाम हो गई। सब को छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की। हाय ! मै किसकी होके रहूँ, मैं किसका मुँह देखकर जिऊँ। प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहनेवाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दीया लेकर मुझको खोजोगे। हा ! तुमने विश्वासघात किया। प्यारे, तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोतव्रत है। हाय ! स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते तो। बकरा जान से गया, पर खानेवाले को स्वाद न मिला। हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह ! खूब निबाह किया। बधिक भी बध कर सुधि लेता है, पर तुमने न सुधि लो। हाय ! एक बेर तो आकर अंक में लगा जाओ। प्यारे, जीते जी आदमी का गुन नहीं मालूम होता। हाय ! फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसैगा और कौन रोवेगा। हाय ! संसार छोड़ा भी नहीं जाता। सब दुःख सहती हूँ, पर इसी में फँसी पड़ी हूँ। हाय नाथ ! चारों ओर से जकड़कर ऐसी बेकाम क्यों कर डाली है। प्यारे, यों ही रोते दिन बीतेंगे। नाथ ! यह हवस मन की मन ही में रह जायगी। प्यारे, प्रगट होकर संसार का मुँह क्यों नहीं बंद करते और क्यों शंकाद्वार खुला रखते हो ? प्यारे, सब दीनदयालुता कहाँ गई ! प्यारे, जल्दी इस संसार से छुड़ाओ। अब नहीं सही जाती। प्यारे, जैसी हैं, तुम्हारी हैं। प्यारे, अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा ? हाय ! मझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो; प्यारे सो भी दे चुकीं, अब तो पार लगाओ। प्यारे, सबकी हद होती है। हाय ! हम तड़पें और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुंब से छुड़ाकर यों छितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन बात है। हाय ! सबकी आँखों में हलकी हो गईं। जहाँ जाओ वहाँ दुर दुर, उस पर यह गति। हाय ! "भामिनी तें भौंड़ी करी, मानिनी तें मौंड़ी करी, कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।" तुम पर बड़ा क्रोध आता है और कुछ कहने

को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस आप आप ही हो; देखो गाली में भी तुम्हें मैं मर्म्मवाक्य कहूँगी—झूठे, निर्दय, निर्घृण, "निर्दय हृदय कपाट", बखेड़िये और निर्लज्ज, ये सब तुम्हें सच्ची गालियाँ हैं; भला जो कुछ करना ही नहीं था तो इतना क्यों झूठ बके ? किसने बकाया था ? कूद-कूद कर प्रतिज्ञा करने बिना क्या डूबी जाती थी ? झूठे ! झूठे !! झूठे !!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वास-घातक ! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते, और उस पर तुर्रा यह है कि किसी को चाहे कितना भी दुखी देखें आपको कुछ घृणा तो आती ही नहीं। हाय-हाय ! कैसे-कैसे दुखी लोग हैं—और मजा तो यह है कि सब धान बाइस पसेरी। चाहे आपके वास्ते दुखी हो, चाहे अपने संसार के दुःख से; आपको दोनों उल्लू फँसे हैं। इस से तो "निर्दय हृदय कपाट" यह नाम है। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया ? किसने इस उपद्रव और जल करने को कहा था ? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते बस चैन था, केवल आनंद था, फिर क्यों यह विषमय संसार किया। बखेड़िये ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप भी अपने मुँह झूठे बने, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता ! बेशरमी हो तो इतनी तो हो। क्या कहना है ! लाज को जूतों मारके पीट-पीटके निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो। हाय ! एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मत-वाले मतवाले बने क्यों लड़-लड़ कर सिर फोड़ते। अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो, काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे, हुकमी बेहया हो, कितनी गाली दूँ, बड़े भारी पूरे हो, शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सुफल हो। जाने दो—हम भी तो वैसे ही निर्लज्ज और झूठी हैं। क्यों न हों। जस दूलह तस बनी बराती। पर इसमें भी मूल उपद्रव तुम्हारा ही है, पर यह जान

रखना कि इतना और कोई न कहेगा, क्योंकि सिफारशी नेति नेति कहेंगे, सच्ची थोड़े ही कहेंगे। पर यह तो कहो कि यह दुःखमय पचड़ा ऐसा ही फैला रहेगा कि कुछ तै भी होगा, वा न तै होय। हमको क्या ? पर हमारा तो पचड़ा छुड़ाओ। हाय मैं किससे कहती हूँ। कोई सुननेवाला है। जंगल में मोर नाचा किसने देखा। नहीं नहीं, वह सब देखता है, वा देखता होता तो अब तक मेरा खबर न लेता। पत्थर होता तो वह भी पसीजता। नहीं नहीं, मैंने प्यारे को इतना दोष व्यर्थ दिया। प्यारे, तुम्हारा दोष कुछ नहीं। यह सब मेरे कर्म्म का दोष है। नाथ, मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ। प्यारे क्षमा करो। मेरे अपराधों की ओर न देखो, अपनी ओर देखो। (रोती है)

'नाटक' :

नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया। नट कहते हैं विद्या के प्रभाव से अपने वा किसी वस्तु के स्वरूप के फेर कर देने वाले को, वा स्वयं दृष्टि रोचन के अर्थ फिरने को। नाटक में पात्रगण अपना स्वरूप परिवर्तन करके राजादिक का स्वरूप धारण करते हैं वा वेष विन्यास के पश्चात् रंगभूमि में स्वकीय कार्य-साधन के हेतु फिरते हैं। काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हाव-भाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसा कालिदास ने शाकुंतल में भ्रमर के आने पर शकुंतला की सूधी चितवन से कटाक्षों का फेरना जो लिखा है, उसकी प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का, शकुंतलावेषसज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृंगार का, उसके नेत्र, सिर, हस्त-चालनादि द्वारा उसके अंगभंगी और हाव-भाव का, तथा कवि-कथितवाणी के उसी के मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित्त पर खचित कर देना ही दृश्यकाव्यत्व है। यदि श्रव्यकाव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रंथ में पढ़िए तो जो काव्यजनित आनंद होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनंद होता है।

दृश्यकाव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों में नाटक ही सबसे मुख्य है इससे रूपक मात्र को नाटक कहते हैं। इसी विद्या का नाम कुशीलवशास्त्र भी है। ब्रह्मा, शिव, भरत, नारद, हनुमान्, व्यास, वाल्मीकि, लव-कुश, श्रीकृष्ण, अर्जुन, पार्वती, सरस्वती और तुंबुरु आदि इसके आचार्य हैं। इनमें भरतमुनि इस शास्त्र के मुख्य प्रवर्तक हैं।

नाटक शब्द की अर्थग्राहिता यदि रंगस्थल खेल ही में की जाय तो हम इसके तीन भेद करेंगे। काव्यमिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। शुद्ध कौतुक यथा—कठपुतली वा खिलौने आदि से सभा इत्यादि का दिखलाना, गूँगे-बहिरे का नाटक, बाजीगरी वा घोड़े के तमाशे में संवाद, भूत-प्रेतादि की नकल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियों को कहैंगे। भ्रष्ट अर्थात् जिनमें अब नाटकत्व नहीं शेष रहा है तथा भाँड़, इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि। पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्यमिश्र हैं तथापि काव्यहीन के कारण वे भी भ्रष्ट ही समझे जाते हैं। काव्य-मिश्र नाटकों को दो श्रेणी में विभक्त करना उचित है। प्राचीन और नवीन—

प्राचीन समय में अभिनय नाट्य, नृत्य, तांडव और लास्य इन पाँच भेदों में बँटा हुआ था। इनमें नृत्य भावसहित नाचने को, नृत्त केवल नाचने को और तांडव और लास्य भी एक प्रकार के नाचने ही को कहते हैं। इससे केवल नाट्य में नाटक आदि का समावेश होगा; शेष चारों नाचने वालों पर छोड़ दिए जायँगे। नाट्य रूपक और उपरूपक में दो भेदों से बँटा है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' :

प्रथम अंक

स्थान—रक्त से रँगा हुआ राजभवन

(नेपथ्य में) बढ़े जाइयो ! कोटिन लवा बटेर के नाशक, वेद-धर्म प्रकाशक, मंत्र से शुद्ध करके बकरा खाने वाले, दूसरे के मांस से अपना

मांस बढ़ाने वाले, सहित सकल समाज श्रीगृध्रराज महाराजाधिराज !

(गृध्रराज, चोबदार, पुरोहित, और मंत्री आते हैं)

राजा—(बैठकर) आज की मछली कैसी स्वादिष्ट बनी थी।

पुरोहित—सत्य है मानो अमृत में डुबाई थी और ऐसा कहा भी है—

केचित् वदन्त्यमृतमस्ति सुरालयेषु
केचित् वदन्ति वनिताधरपल्लवेषु।
ब्रूमो वयं सकलशास्त्रविचारदक्षाः
जंबीरनीरपरिपूरितमत्स्यखण्डे ॥

राजा—क्या तुम ब्राह्मण होकर ऐसा कहते हो ? ऐं तुम साक्षात् ऋषि के वंश में होकर ऐसा कहते हो !

पुरोहित—हाँ हाँ ! हम कहते हैं और वेद, शास्त्र, पुराण, तंत्र सब कहते हैं। "जीवो जीवस्य जीवनम्।"

राजा—ठीक है इसमें कुछ संदेह नहीं है।

पुरो०—संदेह होता तो शास्त्र में क्यों लिखा जाता। हाँ, बिना देवी अथवा भैरव के समर्पण किए कुछ होता हो तो हो भी।

मंत्री—सो भी क्यों होने लगा। भागवत में लिखा है—

"लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना ॥"

पुरो०—सच है और देवी की पूजा नित्य करना इसमें कुछ संदेह नहीं है, और जब देवी की पूजा भई तो मांस-भक्षण आ ही गया। बलि बिना पूजा होहीगी नहीं, और जब बलि दिया तब उसका प्रसाद अवश्य ही लेना चाहिए। अजी भागवत में बलि देना लिखा है, जो वैष्णवों का परम पुरुषार्थ है।

"धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरेश्वरीं"

मंत्री—और "पंच पंचनखा भक्ष्याः" यह सब वाक्य बराबर से शास्त्रों में कहते ही आते हैं।

पुरो०—हाँ हाँ जी, इसमें भी कुछ पूछना है, अजी साक्षात् मनुजी कहते हैं—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने"

और जो मनुजी ने लिखा है कि—

"स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति"

सो वही लिखते हैं—

"अनभ्यर्च्य पितॄन् देवान्"

इससे जो खाली मांस-भक्षण करते हैं उनको दोष है। महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मण गों मांस खा गए पर पितरों को समर्पित था इससे उन्हें कुछ भी पाप न हुआ।

मंत्री०—जो सच पूछो तो दोष कुछ भी नहीं है, चाहे पूजा करके खाओ चाहे वैसे खाओ।

पुरो०—हाँ जी, यह सब मिथ्या एक प्रपंच है, खूब मजे में माँस कचर-कचर के खाना और चैन करना। एक दिन तो आखिर मरना ही है, किस जीवन के वास्ते शरीर को व्यर्थ वैष्णवों की तरह क्लेश देना, इससे क्या होता है?

राजा०—तो कल हम बड़ी पूजा करेंगे। एक लाख बकरा और बहुत से पक्षी मँगवा रखना।

चोबदार०—जो आज्ञा।

पुरो०—(उठ करके नाचने लगा) अहा हा! बड़ा आनंद भया, कल खूब पेट भरेगा।

(राग कान्हरा ताल चर्चरी)

धन्य वे लोग जो।मांस खाते। मच्छ बकरा लवा ससक हरना चिड़ा भेड़ इत्यादि नित चाभ जाते॥ प्रथम भोजन बहुरि होइ पूजा

सुनित अतिहि सुखमा भरे दिवस जाते। स्वर्ग को वास यह लोक में है तिन्हैं नित्य एहि रीति दिन जे बिताते ।।...

'प्रेम-मालिका' :

(राग सारंग)

नैन भरि देखि लेहु यह जोरी।
मनमोहन सुन्दर नट-नागर श्री वृषभानु-किसोरी ॥
कहा कहूँ छबि कहि नहिं आवै वे साँवर यह गोरी।
ये नीलाम्बर सारी पहिने उनको पीत पिछौरी ॥
एक रूप एक बेस एक बय बरनि सकै कवि को री।
'हरीचंद' दोउ कुंजन ठाढ़े हँसत करत चित-चोरी ॥

(राग बिहाग)

हम वो श्री वल्लभ ही को जानैं।
सेवन वल्लभ-पद-पंकज को वल्लभ ही को ध्यानैं ॥
हमरे मात पिता गुरु वल्लभ और नहीं उर आनैं।
'हरिचन्द' वल्लभ-पद-बल सों इन्द्रहु को नहिं मानैं ॥

हम तो मोल लिए या घर के।
दास-दास श्री वल्लभ-कुल के चाकर राधा-बर के ॥
माता श्री राधिका पिता हरि बंधु दास गुन-कर के।
'हरीचंद' तुम्हरे ही कहावत नहिं बिधि के नहिं हर के ॥

रसने, रटु सुन्दर हरि-नाम।
मंगल-करन हरन सब असगुन करन कल्पतरु काम ॥
तू तौ मधुर सलोनो चाहत प्राकृत स्वाद मुदाम।
'हरीचंद' नहिं पान करत क्यों कृष्ण-अमृत अभिराम ॥

(राग सारंग)

बृज के लता-पता मोहिं कीजै ।
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै ॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै ।
श्री राधे राधे मुख यह बर 'हरीचंद' को दीजै ॥

(राग आसावरी या सारंग)

ऊधौ जौ अनेक मन होते ।
तौ इक श्याम सुँदर कों देते इक लै जोग सँजोते ॥
एक सों सब गृह-कारज करते एक सों धरते ध्यान ।
एक सों श्याम रंग रँगते तजि लोक-लाज कुल-कान ॥
को जप करै जोग को साधै को पुनि मूँदै नैन ।
हिये एक रस श्याम मनोहर मोहन को टिक मैन ॥
ह्याँ तो हुतो एक ही मन सो हरि लै गए चुराई ।
'हरीचंद' कोउ और खोजि कै जोग सिखावहु जाई ॥

आजु हम देखत हैं को हारत ।
हम अघ करत कि तुम मोहि तारत को निज बान बिसारत ॥
होड़ पड़ी है तुम सों हम सों देखैं को प्रन पारत ।
'हरीचद' अब जात नरक मैं कै तुम धाइ उबारत ॥

'प्रेम-सरोवर' :

जिहि लहि फिर कछु लहन की आसन चित में होय ।
जयति जगत पावन-करन प्रेम बरन यह दोय ॥
प्रेम प्रेम सब ही कहत प्रेम न जान्यौ कोय ।
जो पै जानहि प्रेम तो मरै जगत क्यों रोय ॥
प्रेम-सरोवर-पंथ मैं चलिहैं कौन प्रवीन ।
कमल-तंतु की नाल सों जाको मारग छीन ॥

प्रेम सरोवर की लखी उलटी गति जग माँहि।
जे डूबे तेई भले तिरे तरे ते नाँहि॥
प्रेम-सरोवर पंथ मैं कीचड़ छीलर एक।
तहाँ इनारू के लगे तट पैं बृच्छ अनेक॥
डरै सदा चाहै न कछु सहै सबै जो होय।
रहै एक रस चाहि कै प्रेम बखानौ सोय॥

'प्रेमाश्रु-वर्षण' :

आजु तन भींजे बसनन सोहैं।
देखि लेहु भरि लोचन सोभा जुगल अरी मन मोहैं॥
उघरे तन अनुरागहु उर के छिपे न जदपि लजौहैं।
रति के चिन्ह जुगल तन बसनन ढँकेहु उघरि उलटौहैं॥
अंग प्रभा मनु बसन रुको नहिं प्रगटि खुली सब सौहैं।
'हरीचंद' दृग भींजि रहे रुकि उड़ि न सकत ललचौहैं॥

नाचत ब्रजराज आज साजे नटराज-साज,
पावस सों बदि बदि कै होड़ सी लगाई।
कोकिल कल बंसी-धुनि नृत्य कला मोर नटनि,
पीत बसन चपला दुति छीनत चमकाई॥
ज्यौं ज्यों बरसत सुबेस त्यौं त्यौं रस बरसत,
हरि घन गरजत उत इत रहे मृदंग बजाई।
'हरीचंद' जीति रंग रह्यो आजु ब्रज अखारैं,
हारे घन रीझि देव कुसुमन झर लाई॥

'जैन-कुतूहल' :

नाहिं ईश्वरता अँटकी वेद में।
तुम तो अगम अनादि अगोचर सो कैसे मत भेद में॥
तुम्हरी अमित अपार अहै गति जाको वार न पारो।

ताकों इति करि गाइ सकै क्यौं बपुरो बेद बिचारो ॥
बेद लिखी ही होय तुम्हारी जो पै महिमा स्वामी ।
तौ परिमिति गुन भए तिहारे नेति नेति के नामी ॥
बेद-मारगहि वारो प्यारे जो इक तुमकों पावै ।
तौ जग-स्वामी जग-जीवन क्यों तुमरो नाम कहावै ॥
जो तुव पद-रज-अंजन नैनन लागै तौ यह सूझै ।
'हरीचंद' बिनु नाथ-कृपा क्यों यह अभेद गति बूझै ॥

पियारो पैये केवल प्रेम मैं ।

नाहि ज्ञान मैं नाहिं ध्यान मैं नाहिं करम-कुल-नेम मैं ॥
नहिं भारत मैं नहि रामायन नहिं मनु मैं नहिं बेद मैं ।
नहिं झगरे मैं नाहिं युक्ति मैं नाहिं मतन के भेद मैं ॥
नहिं मंदिर मैं नहिं पूजा मैं नहिं घंटा की घोर मैं ।
'हरीचंद' वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर मैं ॥

'प्रेम-माधुरी' :

पहिले ही जाय मिले गुन में श्रवन फेरि
रूप-सुधा मधि कीनो नैनहू पयान है ।
हँसनि नटनि चितवनि मुसुकानि सुघराई
रसिकाई मिलि मति पय पान है ।
मोहि मोहि मोहन-मई री मन मेरो भयो
'हरीचंद' भेद ना परत कछु जान है ।
कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय
हिय में न जानी परै कान्ह है कि प्रान है ॥

मिलि गाँव के नाँव धरौ सबही चहुँघा लखि चौगुनौ चाव करौ ।
सब भाँति हमैं बदनाम करौ कढ़ि कोटिन कोटि कुदावँ करौ ।
'हरिचंद' जू जीवन को फल पाय चुकीं अब लाख उपाय करौ ।
हम सोवत हैं पिय-अंक निसंक चवाइनै आओ चवाव करौ ॥

एरी प्रानप्यारी बिन देखे मुख तेरो मेरे
जिय मैं बिरह-घटा घहरि घहरि उठै ।
त्योंही 'हरिचंद' सुधि भूलत न क्योंहू तेरो
लाँबो केस रैन दिन छहरि छहरि उठै ॥
गड़ि गड़ि उठत कँटीले कुच कोर तेरी
सारी सों लहरदार लहरि लहरि उठै ।
सालि सालि जात आधे आधे नैन-बान तेरे
घूँघट की फहरानि फहरि फहरि उठै ॥

आजु लौं जौ न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं ।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं ।
जो 'हरिचंद' भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं ।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समै सब कंठ लगावैं ॥

लै मन फेरिबो जानौ नहीं बलि नेह निबाह कियो नहिं आवत ।
हेरि कै फेरि मुखै 'हरिचंद जू' देखनहू को हमैं तरसावत ।
प्रीत-पपीहन कों घन-साँवरे पानिप-रूप कबौं न पिआवत ।
जानौ न नेक बिथा पर की बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत ॥

ऊधो जू सूधो गहो वह मारग
ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है ।
कोऊ नहीं सिख मानिहै ह्याँ इक
श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है ।
ये बृजबाला सबै इक सी
'हरिचंद' जू मंडली ही बिगरी है ।
एक जो होय तो ज्ञान सिखाइए
कूप ही में यहाँ भाँग परी है ॥

काले परे कोस चलि चलि थक गये पाय
सुख के कसाले परे ताले परे नस के ।

रोय रोय नैनन में हाले परे जाले परे
मदन के पाले परे प्रान पर-बस के ॥
'हरीचंद' अंगहू हवाले परे रोगन के
सोगन के भाले परे तन बल खसके ।
पगन में-छाले परे नाँघिबे को नाले परे
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के ॥

पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरन को अब पेखिये का ।
सुख छाँड़ि कै संगम को तुमरे इन तुच्छन को अब लेखिये का ॥
'हरिचंद जू' हीरन को बेवहार कै काँचन को लै परेखिये का ।
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो उन आँखिन सों अब देखिये का ॥

इन दुखियान को न चैन सपनेहूँ मिल्यौ
तासों सदा ब्याकुल बिकल अकुलायँगी ।
प्यारे 'हरिचंद जू' की बीतो जानि औध प्रान
चाहत चले पै ये तो संग ना समायँगी ।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहिं यातें
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछतायँगी ।
बिना प्रान-प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय
मरेहू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ॥

'प्रेम-तरंग' :

सोरठा

सखी राधा-बर कैसा सजीला ।

देखो री गोइयाँ नजर नहिं लागै कैसा खुला सिर चीरा छबीला ॥
बार-फेर जल पीयो मेरी सजनी मति देखो भर नैना रँगीला ।
'हरीचन्द' मिलि लेहु बलैया अँगुरिन करि चटकारि चुटीला ॥

पीलू

का करौं गोइयाँ अरुझि गईं अँखियाँ।
कैसे छिपाऊँ छिपत नहिं सजनी छैला मद-माती भई मधु-मखियाँ॥
साँवरो रूप देख परबस भईं इन कुल-लाज तनिक नहिं रखियाँ।
'हरीचंद' बदनाम भई मैं तो ताना मारत सब सँग कि सखियाँ॥

काफ़ी पीलू

क्यों फकीर बनि आया बे, मेरे बारे जोगी।
नई बैस कोमल अंगन पर काहें भभूत रमाया बे, मेरे बारे जोगी॥
को वे मात-पिता तेरे जोगी जिन तोहिं नाहिं मनाया बे।
काँचे जिय कछु काके कारन प्यारे जोग कमाया बे, मेरे बारे जोगी॥
बड़े-बड़े नैन छके मद-रँग सों मुख पर लट लटकाया बे।
'हरीचंद' बरसाने में चल घर घर अलख जगाया बे, मेरे बारे जोगी॥

लावनी

बिना उसके जल्वा के दिखाती कोई परी या हूर नहीं।
सिवा यार के, दूसरे का इस दुनियाँ में नूर नहीं॥
जहाँ में देखो जिसे खूबरू वहाँ हुस्न उसका समझो।
झलक उसी की सभी माशूकों में यारो मानो॥
जहाँ कोई ख़ुशगुलू मिलै तुम वहाँ उसी का बोल सुनो।
जुल्फ़ों को भी उसी का पेंच समझ कर आके फँसो॥
नशीली आँखैं वहाँ नहीं हैं जहाँ मेरा मखमूर नहीं।...

रेख़ता

मोहन पिय प्यारे टुक मेरे ढिग आव।
बारी गई सूरत के बदन तो दिखाव।
तरस गए अँग अँग गर मैं लपटाव।
तेरी मैं चेरी मुझे मरत सों जिलाव।

वही रूप वही अदा दीने निज घाव।
प्यारे! 'हरिचन्दहिं' फिर आज भी दरसाव॥

गज़ल

तेरी सूरत मुझे भाई मेरा जी जानता है।
जो झलक तूने दिखाई मेरा जी जानता है॥
अरे जालिम तेरे इस तीरे निगह से हमने।
चोट जैसी कि है खाई मेरा जी जानता है॥
खायँगे जहर नहीं डूब मरेंगे जाकर।
जो है कुछ जी में समाई मेरा जी जानता है॥
कत्ल करके न ख़बर ली मेरे क़ातिल अफ़सोस।
जाँ इसी दुख में गँवाई मेरा जी जानता है॥
प्यार की वह तेरी चितवन व नशीली आँखें।
दिल को किस तरह हैं भाई मेरा जी जानता है॥
दे के जी और पै जीने का मज़ा खो बैठे।
जीते जी जी पै बन आई मेरा जी जानता है॥
सब्र की फौज के पा उठ गए दिल हार गया।
आँख तूने जो लड़ाई मेरा जी जानता है॥
ख्वाब सा हो गया शब को तेरी सुहबत का खयाल।
रात वह फेर न आई मेरा जी जानता है॥
दाग दिल पर य रहेगा कि तेरे कूचे तक।
थी 'रसा' की न रसाई मेरा जी जानता है॥

'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' :

इन मुसलमान हरि-जनन पै कोटिन हिंदुन वारियै।
अलीखान पाटान सुता-सह ब्रज रखवारे।
सेख नबी रसखान मीर अहमद हरि-प्यारे॥
निरमलदास कबीर ताजखाँ बेगम बारी।
तानसेन कृष्णदास बिजापुर नृपति-दुलारी॥

पिरजादी बीबी रास्ती पद-रज नित सिर धारियै ।
इन मुसलमान हरि-जनन पै कोटिन हिन्दुन वारियै ॥

'प्रेम-प्रलाप':

रासे रमयति कृष्णं राधा
हृदि निधाय गाढ़ालिंगन कृत हृत विरहातप-बाधा ॥
आश्लिष्यति चुम्बति परिरम्भति पुनः पुनः प्राणेशं ।
सात्विकभावोदयशिथिलायित मुक्ताऽकुञ्चितकेशं ॥
भुजलतिकाबन्धनमाबद्धं कामकल्पतरुरूपं ।
सीमन्तिनी कोटिशतमोहनसुंदरगोकुलभूपं ॥
स्वालिंगनकण्टकित - तनु - स्पर्शोदितमदनविकारं ।
स्खलित वचनरचन श्रवण स्खलितीकृतरतरति-मारं ॥
रतिविपरीतलालसालसरस लसित मोहिनीवेशं ।
निज सीत्कारमोहितप्रमदादत्तमाधवावेशं ॥
हुंकृतिद्विगुणसुरतपणश्रमलोलित नाशाभूषं ।
निजासेचनकसिंचित शशधार-मुख-स्वेदपीयूषं ॥
वात्सयायनविधिविहितषडङ्ग विलक्षण रक्षण दक्षं ॥
चतुराशीति चतुर तरता धृत कामकलाकलपक्षं ।
स्वेद-सुगंधविमूर्च्छितालिकुल सहकिङ्किणिकलरावं ।
नखदानाधरखण्डनजनितोद्भटसहचारी भावं ॥
कठिनकुचामर्दन शिथिलीकृतकरकङ्कणभुजबन्धं ।
प्रतिमुद्रितसिंदूरकज्जलादिक मुख हृदय स्कन्धं ॥
निशावसानाजागर जेनित सखीजनमोहित तन्द्रे ।
गायति गोकुलचन्द्राग्रज कवि हरिश्चन्द्र कुलचन्द्रे ॥

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है ।
हम सब इक दिन उड़ जाएँगे यह दिन चार बसेरा है ॥
आठ बेर नौबत बज-बजकर तुझको याद दिलाती है ।
जाग-जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है ॥

आँधी चलकर इधर उधर से तुझको यह समझाती है।
चेत चेत जिंदगी हवा सी उड़ी तुम्हारी जाती है॥
पत्ते सब हिल-हिल कर पानी हर-हर करके बहता है।
हर के सिवा कौन तू है बे यह परदे में कहता है॥
दिया सामने खड़ा तुम्हारी करनी पर सिर धुनता है।
इक दिन मेरी तरह बुझोगे कहता तू नहिं सुनता है॥
रोकर गाकर हँसकर लड़ कर जो मुँहसे कह चलता है।
मौत-मौत फिर मौत सच्च है येही शब्द निकलता है॥
तेरी आँख के आगे से यह नदी बही जो जाती है।
योंही जीवन बह जायेगा यह तुझको समझाती है॥
खिल-खिलकर सब फूल बाग में कुम्हला-कुम्हला जाते हैं।
तेरी भी गति यही है गाफ़िल यह तुझको दिखलाते हैं॥
इतने पर भी देख औ सुनकर क्या गाफ़िल हो फूला है।
'हरीचंद' हरि सच्चा साहब उसको बिलकुल भूला है॥

'सतसई-सिंगार' :

मेरी भव-बाधा हरो राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परैं स्याम हरित दुति होइ॥
स्याम हरित द्युति होइ परैं जा तन की झाँई।
पाय पलोटत लाल लखत साँवरे कन्हाई॥
श्री 'हरिचंद' बियोग पीत पट मिलि दुति टेरी।
नित हरि जा रँग रँगे हरौ बाधा सोइ मेरी॥

'होली' :

डफ की

हम चाकर राधा रानी के।
ठाकुर श्री नँदनंदन के वृषभानु लली ठकुरानी के॥
निरभय रहत बदत नहिं काहू डर नहिं डरत भवानी के।
'हरीचंद' नित रहत दिवाने सूरत अजब निवानी के॥

राग काफी

गिरिधर लाल रँगीले के सँग आजु फाग हौं खेलोंगी।
सास ननद अरु गुरुजन की भय लाजहिं पाँयन टेलोंगी॥
चोवा चंदन अबिर अरगजा पिचकारिन रँग झेलोंगी।
'हरीचंद' बृज-चंद पिया के कंठ भुजा गहि मेलोंगी॥

'मधु-मुकुल' :

काफी

जुरि आए फाँके-मस्त होली होय रही।
घर में भूँजी भाँग नहीं है तौ भी न हिम्मत पस्त॥
होली होय रही॥
महँगी परी न पानी बरसा बजरौ नाहीं सस्त।
धन सब गवा अकिल नहिं आई तो भी मङ्गल कस्त॥
होली होय रही॥
परबस कायर कूर आलसी अंधे पेट-परस्त।
सूझत कुछ न बसन्त माँहि ये भे खराब औ खस्त॥

'राग-संग्रह' :

बधाई, राग कान्हरा

जो पै श्री राधा रूप न धरतीं।
प्रेम-पंथ जग प्रगट न होतो ब्रज-बनिता कहा करतीं॥
पुष्टिमार्ग थापित को करतो ब्रज रहतो सब सूनो।
हरि-लीला काके सँग करते मंडल होतो ऊनो॥
रास-मध्य को रमतो हरि सँग रसिक सुकबि कह गाते।
'हरीचन्द' भव के भय सों भजि किहिके सरनहिं जाते॥

आजु दोउ खेलत साँझी साँझ।
नंदकिशोर राधा गोरी जोरी सखियन माँझ॥
कुसुम चुनन में रुनझुन बाजत कर-चूरी पग-झाँझ।
'हरीचंद' बिधि गरब गरूरी भई रूप लखि बाँझ॥

हमरे निर्धन की धन राधा।
साधन कोटि छोड़ि इनहीं को चरन-कमल अवरांधा॥
इनके बल हम गिनत न काहू करत न जिय कोउ साधा।
'हरीचंद' इन नख-सिख मेरी हरी तिमिर भव-बाधा॥

'वर्षा-विनोद':

कजली

प्यारी झूलन पधारो झुकि आए बदरा।
ओढ़ौ सुरुख चूनरि तापै श्याम चदरा॥
देखो बिजुरी चमक्के बरसै अदरा।
'हरीचंद' तुम बिन पिय अति कदरा॥

सोरठ

मेरे नैनों का तारा है, मेरा गोबिन्द प्यारा है।
वो सूरत उसकी भोली सी वो सिर पगिया मठोली सी,
वो बोली मैं ठठोली सी बोलि दृग बान मारा है॥
व घूँघरवालियाँ अलकैं व झोंकेवालियाँ पलकैं,
मेरे दिल बीच हलकैं छुटा घर-बार सारा है।
दरस सुख रैन दिन लूटै न छिन भर तार यह टूटै,
लगी अब तो नहीं छूटै प्रान 'हरिचन्द' वारा है।
मेरें नैनों का तारा है, मेरा गोविन्द प्यारा है॥

मलार

मेरे गल सों लग जाओ प्यारे घिरि आई बदरिया घोर।
बड़ी बड़ी बूँदन बरसन लागीं बोलत दादुर मोर॥
बिजुरी चमक देखि जिय डरपै पवन चलत झकझोर।
'हरीचंद' पिय कंठ लगाओ राखो अपनी कोर॥

हमरी श्री राधा महारानी।
तीन लोक को ठाकुर जो है ताहू की ठकुरानी॥

सब ब्रज की सिरताज लाडिली सखियन की सुखदानी ।
'हरीचंद' स्वामिनि पिय कामिनि परम कृपा की खानी ॥

कजली

भारत में एहि समय भई है सब कुछ
बिनहिं प्रमान हो दुइ-रंगी ।
आधे पुराने पुरानहिं मानें
आधे भए किरिस्तान हो दुइ-रंगी ॥
क्या तो गदहा को चना चढ़ावैं
कि होइ दयानँद जायँ हो दुइ-रंगी ।
क्या तो पढ़ैं कैथी कोठिवलियै
कि होइ बरिस्टर धाय हो दुइ-रंगी ॥
एही से भारत नास भया सब
जहाँ तहाँ यही हाल हो दुइ-रंगी ।
होउ एक मत भाई सबै अब
छोड़हु चाल कुचाल हो दुइ-रंगी ॥
देखो भारत ऊपर कैसी छाई कजरी ।
मिटि धूर में सपेदी सब आई कजरी ॥
दुज बेद की रिचन छोड़ि गाई कजरी ।
नृप-गन लाज छोड़ि मुँह लाई कजरी ॥

'विनय-प्रेम-पचासा' :

भजौं तो गुपाल ही कों सेवौं तो गुपालै एक
मेरो मन लाग्यो सब भाँति नंदलाल सों ।
मेरे देव देवी गुरु माता पिता बन्धु इष्ट
मित्र सखा हरि नातो एक गोप-बाल सों ॥
'हरीचंद' और सों न मेरो संबंध कछु
आसरो सदैव एक लोचन बिसाल सों ।

माँगौं तो गुपाल सों न माँगौं तो गुपाल ही सों
रीझौं तो गुपाल पै औ खीझौं तो गुपाल सों ॥

'प्रेम-फुलवारी' :

मरम की पीर न जानै कोय ।
कासों कहौं कौन पुनि मानै बैठ रहीं घर रोय ॥
कोऊ जरनि न जाननवारी बे-महरम सब लोय ।
अपुनो कहत सुनत नहिं मेरी केहि समुझाऊँ सोय ॥
लोक-लाज कुल की मरजादा बैठि रही सब सोय ।
'हरीचंद' ऐसहिं निबहैगी होनी होय सो होय ॥

'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' :

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ॥
पढ़े संस्कृत जतन करि पंडित भे विख्यात ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन कहि न सकत एक बात ॥
पढ़े फ़ारसी बहुत बिध तौहू भये खराब ।
पानी खटिया तर रहो पूत मरे बकि आब ॥
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन ।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन ॥
लखहु न अँगरेजन करी उन्नति भाषा माँहिं ।
सब विद्या के ग्रंथ अंगरेजिन माँह लखाहिं ॥
बिबिध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार ।
सब देसन से लै करहु भाषा माँहिं प्रचार ॥
पै सब बिद्या की कहूँ होइ जु पै अनुवाद ।
निज भाषा महँ तो सबै याको लहै सवाद ॥
तासों सब मिलि छाँड़ि कै दूजे और उपाय ।
उन्नति भाषा की करहु अहो भ्रात गन आय ॥

परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की करि आस।
पर-बस ह्वै कब लौं कहो रहिहौ तुम ह्वै दास॥
निज भाषा, निज धरम, निज मान करम ब्यौहार।
सबै बढ़ावहु वेगि मिलि कहत पुकार पुकार॥
करहु बिलम्ब न भ्रात अब उठहु मिटावहु सूल।
निज भाषा उन्नति करहु प्रथम जो सब को मूल॥
लहहु आर्य्य भ्राता सबै विद्या बल बुधि ज्ञान
मेटि परस्पर द्रोह मिलि होहु सबै गुन-खान॥

'बन्दर सभा' :

[आना शुतुरमुर्ग परी का बीच सभा के]
आज महफिल में शुतुरमुर्ग परी आती है।
गोया महमिल से व लैली उतर आती है॥
तेल औ पानी से पट्टी है सँवारी सिर पर।
मुँह पै माँझा दिये जल्लादो जरी आती है॥
झूठे पट्ठे की है मूबाफ पड़ी चोटी में।
देखते ही जिसे आँखों में तरी आती है॥
पान भी खाया है मिस्सी भी जमाई हैगी।
हाथ में पायँचा लेकर निखरी आती है॥
मार सकते हैं परिन्दे भी नहीं पर जिस तक।
चिड़िया-वाले के यहाँ अब व परी आती है॥
जाते ही लूट लूँ क्या चीज़ खसोटूँ क्या शै।
बस इसी फिक्र में वह सोच भरी आती है॥

'विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती' :

हाय वहै भारत भुव भारी।
सब ही बिधि तें भई दुखारी॥

रोम, ग्रीस पुनि निज बल पायो ।
सब बिधि भारत दुखित बनायो ॥
अति निरबली स्याम जापाना ।
हाय न भारत तिनहुँ समाना ॥
हाय रोम तू अति बड़-भागी ।
बरबर तोहिं नास्यो जय लागि ॥
तोड़े कीरति-खंभ अनेकन[1] ।
ढाहे गढ़ बहु करि जय-टेकन ॥
सबै चिन्ह तुव धूर मिलाए ।
मंदिर महलनि तोरि गिराए ॥
कछु न बची तुव भूमि निसानी ।
सो बरु मेरे मन अति मानी ।
पै भारत-भुव-जीतन-हारे ।
थाप्यौ पद या सीस उघारे ॥
तोर्‌यो दुर्गन, महल ढहायो ।
तिनही मैं निज गेह बनायो ॥
ते कलंक सब भारत करे ।
ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे ॥
हाय पंचनद, हाय पानीपत
अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत ।
हाय चितौर निलज तू भारी ।
अजहुँ खरो भरतहि मँझारी ॥
जा दिन तुव अधिकार नसायो ।
ताही दिन किन धरनि समायो ॥
रह्यो कलंक न भारत-नामा ।
क्यों रे तू बारागसि धामा ॥
इनके भय कंपत संसारा ।

सब जग इनको तेज पसारा ।
इनके तनकहि भौंह हिलाए ।
थर थर कंपत नृप भय पाए ॥
इनके जय की उज्ज्वल गाथा ।
गावत सब जग के रुचि साथा ।
भारत-किरिन जगत उँजियारा ।
भारत जीव जियत संसारा ॥
भारत-भुज-बल लहि जग रच्छित ।
भारत-विद्या सों जग सिच्छित ॥
रहे जबै मनि क्रीट सुकुंडल ।
रह्यो दंड जय प्रबल अखण्डल ॥
रह्यौ रुधिर जब आरज सीसा ।
ज्वलित अनल-समान अवनीसा ॥
साहस बल इन सम कोउ नाहीं ।
जबै रह्यौ महि मंडल माहीं ॥...

'नए ज़माने की मुकरी' :

सब गुरुजन को बुरो बतावै
अपनी खिचड़ी अलग पकावै ॥
भीतर तत्व न झूठी तेजी ।
क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेजी ॥
तीन बुलाए तेरह आवैं
निज निज बिपता रोइ सुनावैं ॥
आँखौ फूटे भरा न पेट ।
क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रैजुएट ॥
भीतर भीतर सब रस चूसै ।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै ॥

जाहिर बातन में अति तेज ।
क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेज ॥
मुँह जब लागै तब नहिं छूटै ।
जाति मान धन सब कुछ लूटै ॥
पागल करि मोहिं करै ख़राब ।
क्यों सखि सज्जन नहीं सराब ॥